

Chapter इक्कीस

भगवान् कृष्ण द्वारा वैदिक पथ की व्याख्या

कुछ लोग कर्म, ज्ञान तथा भक्ति इन तीनों प्रकार के योग के लिए अनुपयुक्त हैं। वे भगवान् कृष्ण से द्वेष रखते हैं, इन्द्रियतृप्ति के प्रति आसक्त रहते हैं और ऐसे सकाम कर्मों के वशीभूत होते हैं जिनका लक्ष्य भौतिक इच्छाओं की पूर्ति होता है। यह अध्याय उनके दोषों को स्थान, काल, वस्तु तथा लाभ उठाने वालों को दृष्टि में रख कर वर्णन करता है।

जो लोग भगवान् सम्बन्धी ज्ञान तथा भक्ति के विषय में पूर्ण हैं, उनके लिए गुणों अथवा दोषों का

कोई अर्थ नहीं है। किन्तु भौतिक जीवन की समाप्ति के लिए इच्छुक कर्मों के लिए नियमित तथा विशिष्ट सकाम कर्म करना गुण है और उन्हें न कर पाना दोष है। उसके लिए पापकर्मों के निराकरण के लिए जो कुछ किया जाय, वह अच्छा है।

सतो गुणी ज्ञानियों तथा भक्तों के लिए उपयुक्त कार्य क्रमशः ज्ञान का अनुशीलन एवं श्रवण, कीर्तन आदि से युक्त भक्ति के अभ्यास हैं। दोनों के लिए उनके कर्मों में बाधक हर वस्तु बुरी है। किन्तु जो लोग आध्यात्मिक प्रगति के लिए इच्छुक नहीं हैं, या जो सिद्ध आत्माएँ नहीं हैं, अर्थात् जो लोग आध्यात्मिक जीवन से द्वेष रखते हैं और अपनी काम-वासनाओं की पूर्ति के लिए सकाम कर्म में लगे रहते हैं, उनके लिए शुद्धि तथा अशुद्धि एवं शुभ तथा अशुभ सम्बन्धी अनेक विचारणीय विषय होते हैं। इनमें शरीर, कर्म-स्थल, काल, काम में आने वाली वस्तुएँ, कर्ता, मंत्र तथा विशेष कर्म ध्यान में रखे जाते हैं।

वस्तुतः गुण तथा दोष परम नहीं हैं प्रत्युत प्रगति के विशेष स्तर के सापेक्ष होते हैं। अपने स्तर के उपयुक्त विवेक पर बने रहना शुभ है और अन्य सब कुछ बुरा है। गुण तथा दोष का यही मूलभूत ज्ञान है। यहाँ तक कि एक ही कोटि की वस्तुओं में धार्मिक कार्यों के करने में संसारी आदान-प्रदान (लेन-देन) में तथा जीवनयापन में शुद्धि अथवा अशुद्धि के बारे में विभिन्न प्रकार के मत हैं। इन अन्तरों को विभिन्न शास्त्रों में दिया गया है।

वर्णाश्रम सिद्धान्त में शारीरिक शुद्धि तथा अशुद्धि के नीतिवचन सूत्रबद्ध हैं। कर्मस्थल के अनुसार, शुद्धि तथा अशुद्धि का अन्तर श्याम-मृग की उपस्थिति के आधार पर किया जाता है। काल के सम्बन्ध में काल के ही रूप में अथवा विभिन्न वस्तुओं के साथ विशिष्ट सम्बन्ध के रूप में, शुद्धि तथा अशुद्धि का अन्तर किया जाता है। शारीरिक वस्तुओं के सम्बन्ध में शुद्धि तथा अशुद्धि का अन्तर वस्तुओं तथा शब्दों को पवित्र बनाने तथा स्नान, दान, तपस्या, भगवान् का स्मरण करने जैसे कार्यों के द्वारा किया जाता है। कर्म करने वाले की शुद्धि तथा अशुद्धि में भी अन्तर होते हैं। जब मंत्र को प्रामाणिक गुरु के मुख से प्राप्त किया जाता है, तो मंत्र को शुद्ध माना जाता है और यदि कोई अपना कर्म भगवान् को अर्पित करता है, तो वह शुद्ध बन जाता है। यदि स्थान, काल इत्यादि छह कारकों को शुद्ध कर लिया जाता है, तब धर्म या गुण रहता है अन्यथा अधर्म या दोष होता है।

अन्ततः गुण तथा दोष में अन्तर का कोई यथेष्ट आधार नहीं है क्योंकि वे स्थान, काल, लाभ प्राप्त करने वाले आदि के अनुसार बदलते हैं। इन्द्रियतृप्ति के लिए सम्पन्न किये जाने वाले कर्मों के सम्बन्ध में सभी शास्त्रों का अभिमत भौतिकतावादी मनोवृत्तियों को दमन करना है। वास्तविक धर्म ऐसा है, जो शोक, शंका तथा भय को नष्ट करता है और सौभाग्य प्रदान करता है। इन्द्रियतृप्ति के लिए किया गया कर्म वास्तव में लाभप्रद नहीं है। विभिन्न फलश्रुतियों में दिये गये ऐसे लाभों का वर्णन सर्वोच्च लाभ के लिए क्रमशः रुचि उत्पन्न करना है। किन्तु अल्प बुद्धि वाले लोग शास्त्रों के अलंकारयुक्त वर देने वाले श्लोकों को ही वेदों का वास्तविक सार मान बैठते हैं किन्तु जिन्हें वेदों का वास्तविक ज्ञान है, वे ऐसा नहीं मानते। ऐसे व्यक्तियों को जिनके मन वेदों की अलंकारमयी वाणी से चंचल हैं, भगवान् हरि की कथाएँ सुनने में कोई आकर्षण नहीं लगता। यह जान लेना चाहिए कि आदि भगवान् से पृथक् वेदों का कोई आन्तरिक तात्पर्य नहीं है। वेद अपना ध्यान पूरी तरह से परब्रह्म भगवान् पर ही केन्द्रित करते हैं। चूँकि यह भौतिक जगत भगवान् की मायाशक्ति है, इसलिए भौतिक जगत का खण्डन करके ही पदार्थ से निःसंग बना जा सकता है।

श्रीभगवानुवाच

य एतान्मत्पथो हित्वा भक्तिज्ञानक्रियात्मकान् ।
क्षुद्रान्कामांश्चलैः प्राणैर्जुषन्तः संसरन्ति ते ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; ये—जो; एतान्—इन; मत्-पथः—मुझे प्राप्त करने का साधन; हित्वा—त्याग कर; भक्ति—भक्ति; ज्ञान—वैश्लेषिक दर्शन; क्रिया—नियमित कर्म; आत्मकान्—से युक्त; क्षुद्रान्—नगण्य; कामान्—इन्द्रियतृप्ति; चलैः—चंचल; प्राणैः—इन्द्रियों से; जुषन्तः—अनुशीलन करते हुए; संसरन्ति—संसार को भोगते हैं; ते—वे।

भगवान् ने कहा : जो मुझे प्राप्त करने वाली उन विधियों को, जो भक्ति, वैश्लेषिक दर्शन (ज्ञान) तथा नियत कर्मों की नियमित सम्पन्नता (कर्म-योग) से युक्त हैं, त्याग देता है और भौतिक इन्द्रियों से विचलित होकर क्षुद्र इन्द्रियतृप्ति में लग जाता है, वह निश्चय ही बारम्बार संसार-चक्र में फँसता जाता है।

तात्पर्य : जैसाकि पिछले अध्यायों में भगवान् कृष्ण स्पष्ट कर चुके हैं, वैश्लेषिक ज्ञान तथा नियत कर्मों की सम्पन्नता अन्ततोगत्वा कृष्णभावनामृत अथवा शुद्ध ईश-प्रेम प्राप्त करने के लिए है। भगवान् की महिमा के श्रवण तथा कीर्तन पर आधारित भक्ति, बद्धजीव को भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगाती है

और इस प्रकार भगवान् को प्राप्त करने का यह सर्वोत्तम साधन है। किन्तु इन तीनों विधियों में एक निहित एकमात्र लक्ष्य कृष्णभावनामृत है। अब भगवान् उनका वर्णन करते हैं, जो भौतिक इन्द्रियतृप्ति में लिप्त रहते हैं और भगवान् की कृपा पाने के लिए कोई प्रामाणिक साधन नहीं अपनाते। सम्प्रति इस श्रेणी में करोड़ों अभागे लोग आते हैं और जैसा यहाँ वर्णित है, वे भव-बन्धन का निरन्तर कष्ट भोगते हैं।

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः ।

विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

स्वे स्वे—अपने अपने; अधिकारे—पद में; या—ऐसी; निष्ठा—स्थिरता; सः—वह; गुणः—पुण्य; परिकीर्तितः—घोषित; विपर्ययः—विपरीत; तु—निस्सन्देह; दोषः—पाप; स्यात्—है; उभयोः—दोनोंमें; एषः—यह; निश्चयः—निश्चित मत।

अपने पद पर स्थिरता वास्तविक शुद्धि कहलाती है और अपने पद से विचलन अशुद्धि है।

इस तरह दोनों को निश्चित किया जाता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में भगवान् कृष्ण ने बतलाया कि आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग निष्काम होकर कर्म करने से शुरू होता है, फिर अनुभूत आध्यात्मिक ज्ञान की अवस्था को प्राप्त होता है और भगवद्भक्ति में संलग्न होने में जाकर समाप्त होता है। यहाँ पर भगवान् इस बात पर बल दे रहे हैं कि भगवान् द्वारा नियत कार्यों से विपथ होकर, बद्धजीव को कृष्णभावनामृत के सहज विकास को कृत्रिम रूप से ठप्प नहीं कर देना चाहिए। मनुष्य-जीवन की निम्नतर अवस्थाओं में मनुष्य समाज, मैत्री तथा प्रेम पर आधारित सकाम कर्मों को करने के लिए स्थूल शरीर तथा इच्छाओं के साथ झूठी पहचान में फँसा रहता है। जब ऐसे भैतिकतावादी कार्यकलापों को यज्ञ द्वारा भगवान् को अर्पित कर दिया जाता है, तो वह कर्म-योग को प्राप्त होता है। नियमित यज्ञ द्वारा मनुष्य देहात्म बुद्धि को क्रमशः त्याग कर आध्यात्मिक ज्ञान के साक्षात्कार की अवस्था को प्राप्त होता है, जिसमें वह अपने को भौतिक शरीर तथा मन से सर्वथा पृथक्, नित्य आत्मा के रूप में समझने लगता है। भौतिकतावाद के चंगुल से छूट कर राहत का अनुभव करते हुए, वह आध्यात्मिक ज्ञान के प्रति अत्यधिक आसक्त होता है और इस तरह वह ज्ञान-योग की अवस्था को प्राप्त होता है। आध्यात्मिक पथ पर और आगे बढ़ने पर वह अपने को परमात्मा भगवान् कृष्ण का भिन्नांश समझने लगता है। तब वह देखता है कि उसका बद्ध जीवन

तथा उसका आध्यात्मिक ज्ञान भगवान् से ही प्राप्त था, जो कि पवित्र तथा पापमय दोनों ही तरह के सारे कर्मों का फल देने वाले हैं। भगवद्भक्ति में लगने तथा अपने को भगवान् का नित्य दास मानने पर मनुष्य की आसक्ति शुद्ध भगवत्प्रेम में विकसित होती है। इस तरह मनुष्य पहले भौतिक शरीर से आसक्ति की निम्न अवस्था को छोड़ता है और फिर बाद में आध्यात्मिक ज्ञान के अनुशीलन की आसक्ति को त्याग देता है। इससे मनुष्य भौतिक जीवन से छुटकारा पा जाता है। अन्त में वह भगवान् को ही अपने नित्य प्रेम का आश्रय मान लेता है और कृष्णभावनामृत में पूरी तरह ईश्वर की शरण में चला जाता है।

इस श्लोक में कृष्ण बतलाते हैं कि जो अब भी शरीर तथा मन से आसक्त रहता है, वह *कर्म-योग* के नियत कार्यों को कृत्रिम ढंग से त्याग नहीं पाता। इसी तरह जो आध्यात्मिक नवदीक्षित है और भौतिक जीवन की माया का अनुभव करने लगता ही है, उसे *प्रेमाभक्ति* अवस्था का अनुकरण करते हुए भगवान् की अन्तरंग लीलाओं को चौबीसों घंटे सोचने का कृत्रिम प्रयास नहीं करना चाहिए। प्रत्युत, उसे भौतिक जगत के वैश्लेषिक ज्ञान का अनुशीलन करना चाहिए जिससे मनुष्य देह तथा मन के प्रति आसक्ति को त्याग देता है। *श्रीमद्भागवत* में भौतिक जगत के अनेक वैश्लेषिक विवरण मिलते हैं और इनसे बद्धजीव, पदार्थ के साथ झूठी पहचान से मुक्त हो सकता है। किन्तु जो जगत की समस्त स्थूल तथा सूक्ष्म आसक्तियों से मुक्त होकर भगवत्प्रेम की पूर्ण अवस्था को प्राप्त कर चुका है, वह *कर्म-योग* तथा ज्ञानयोग की निम्नतर अवस्थाओं को त्याग कर भगवान् की *प्रेमाभक्ति* में लग सकता है।

अध्याय उन्नीस के श्लोक ४५ में कृष्ण कहते हैं— *गुणदोष दृष्टिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः*। भगवद्भक्त में किसी को गुण तथा दोष का दर्शन नहीं करना चाहिए। ऐसी संसारी धारणाओं को त्याग कर मनुष्य पुण्यात्मा बन सकता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इंगित करते हैं कि कभी कभी नवदीक्षित भक्त उन कर्मियों तथा ज्ञानियों की संगति से दूषित हो सकता है, जो बड़े उत्साह के साथ सकाम कर्मों तथा मानसिक चिंतन का अनुसरण करते हैं। ऐसे भक्त के धार्मिक कार्यकलाप संसारी प्रवृत्तियों से प्रभावित हो सकते हैं। इसी तरह कोई सामान्य पुरुष जो शुद्ध भक्त के उच्च पद को देखता है, कभी कभी अपने को भक्त के ही समान शुद्ध भक्ति के उच्च पद पर मानते हुए, भक्त के कार्यों का अनुकरण करता है। *भक्ति-योग* के ऐसे अधकचरे अभ्यासकर्ता आलोचना से मुक्त नहीं होते क्योंकि उनके सकाम कर्म,

उनकामानसिक चिन्तन तथा उनकी झूठी प्रतिष्ठा भगवान् की शुद्ध भक्ति में अडंगा जैसे हैं। भगवान् की सेवा में लगे शुद्ध भक्त की आलोचना नहीं की जानी चाहिए, किन्तु जिस भक्त की भक्ति भौतिक गुणों से मिश्रित हो, उसका सुधार होना चाहिए जिससे वह शुद्ध भक्ति के पद तक उठ सके। अबोध मनुष्यों को उन लोगों की मिश्रित भक्ति से गुमराह नहीं होना चाहिए जो मात्र भक्तियोग में नहीं लगे हैं। किन्तु जो लोग कृष्णभावनामृत में पूरी तरह नहीं लग सकते उन्हें अपने नियत कार्यों को यह कह कर कि वे माया हैं, त्याग नहीं देना चाहिए। उदाहरणार्थ, जो व्यक्ति शुद्ध कृष्णभावनामृत में पूरी तरह लगने में असमर्थ है, उसे अपने परिवार का परित्याग मोह मान कर नहीं कर देना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से वह अवैध यौन-जीवन में जा गिरेगा। इसलिए जब तक कोई कृष्णभावनामृत का प्रत्यक्ष अभ्यास करने की अवस्था को प्राप्त न कर ले, उसे भौतिक शुद्धि तथा भौतिक जगत के वैश्लेषिक ज्ञान का अनुशीलन करना चाहिए।

शुद्धयशुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुषु ।
द्रव्यस्य विचिकित्सार्थं गुणदोषौ शुभाशुभौ ।
धर्मार्थं व्यवहारार्थं यात्रार्थमिति चानघ ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

शुद्धि—शुद्धि; अशुद्धी—तथा अशुद्धि; विधीयेते—स्थापित की जाती हैं; समानेषु—समान श्रेणी वालों में; अपि—निस्सन्देह; वस्तुषु—वस्तुओं में; द्रव्यस्य—विशेष वस्तु का; विचिकित्सा—मूल्यांकन; अर्थम्—के हेतु; गुण-दोषौ—अच्छे तथा बुरे गुण; शुभ-अशुभौ—शुभ तथा अशुभ; धर्म-अर्थम्—धार्मिक कार्यों के लिए; व्यवहार-अर्थम्—सामान्य व्यवहार के हेतु; यात्रा-अर्थम्—अपनी शारीरिक दीर्घजीविता (अतिजीवन) हेतु; इति—इस प्रकार; च—भी; अनघ—हे निष्पाप।

हे निष्पाप उद्धव, यह समझने के लिए कि जीवन में क्या उचित है, मनुष्य को किसी एक पदार्थ का मूल्यांकन उसकी विशेष कोटि के भीतर ही करना चाहिए। इस तरह धर्म का विश्लेषण करते समय मनुष्य को शुद्धि तथा अशुद्धि पर विचार करना चाहिए। इसी प्रकार अपने सामान्य व्यवहार में मनुष्य को अच्छे तथा बुरे में अन्तर करना चाहिए और अपनी शारीरिक दीर्घजीविता (अतिजीवन) के लिए उसे पहचानना चाहिए कि क्या शुभ है और क्या अशुभ है।

तात्पर्य : धार्मिक कार्यों, सामान्य व्यवहार तथा निजी अस्तित्व के लिए मूल्य के निर्णय से नहीं बचा जा सकता। नैतिकता तथा धर्म सभ्य समाज की सनातन आवश्यकताएँ हैं इसलिए शुद्धि-अशुद्धि, पुण्य-पाप, नैतिकता-अनैतिकता में जो अन्तर है उसको सुनिश्चित करना चाहिए। इसी प्रकार हम अपने

सामान्य सांसारिक कार्यों में स्वादिष्ट तथा स्वादहीन भोजन, अच्छे तथा बुरे व्यापार, उच्च कोटि तथा निम्न कोटि के आवास, अच्छे तथा बुरे मित्र, आदि में अन्तर करते हैं। और अपने स्वास्थ्य तथा अपने अस्तित्व को सुनिश्चित करने के लिए हमें सुरक्षित-असुरक्षित, स्वस्थ-अस्वस्थ, लाभप्रद-अलाभप्रद में निरन्तर अन्तर करना चाहिए। यहाँ तक कि विद्वान् पुरुष को भी इस संसार में अच्छे तथा बुरे में निरन्तर भेद करना चाहिए। किन्तु उस के साथ साथ उसे कृष्णभावनामृत के दिव्य पद को भी समझना चाहिए। सावधानीपूर्वक गणना करने के बावजूद कि भौतिक दृष्टि से क्या स्वास्थ्य के लिए उपयोगी है और क्या अनुपयोगी है, भौतिक शरीर को मरना पड़ता है। इसी तरह सामाजिक रूप से क्या अनुकूल और क्या प्रतिकूल है इसकी छानबीन करने पर भी, समय के साथ मनुष्य का सारा सामाजिक परिवेश समाप्त हो जायेगा। इसी तरह इतिहास के प्रवाह में बड़े बड़े धर्म उदय और अस्त होते हैं। इस तरह कोरी धार्मिकता, सामाजिक तथा आर्थिक दाक्षिण्य अथवा शारीरिक स्वस्थता से ही जीवन की वास्तविक पूर्णता नहीं मिल जाती। भौतिक जगत की सापेक्ष अच्छाई के परे दिव्य अच्छाई है। कोई भी विज्ञ व्यक्ति भौतिक भेद-भाव की आवश्यकता को स्वीकार करता है फिर भी मनुष्य को अन्ततः कृष्णभावनामृत की दिव्य अवस्था तक पहुँचना चाहिए जहाँ जीवन नित्य, आनन्दमय तथा ज्ञानमय है। भगवान् कृष्ण उद्धव को अपनी विस्तृत शिक्षाओं के द्वारा धीरे धीरे कृष्णभावनामृत की दिव्य स्थिति स्पष्ट कर रहे हैं, जो अनन्त प्रकार के भौतिक गुण-दोष से परे है।

दर्शितोऽयं मयाचारो धर्ममुद्धतां धुरम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

दर्शितः—दिखलाया गया; अयम्—यह; मया—मेरे द्वारा; आचारः—जीवन-शैली; धर्मम्—धार्मिक सिद्धान्त; उद्धताम्—वहन करने वालों के लिए; धुरम्—भार।

मैंने जीवन की यह शैली उन लोगों के लिए प्रकट की है, जो संसारी धार्मिक सिद्धान्तों का भार वहन कर रहे हैं।

तात्पर्य : वे सामान्य धार्मिक सिद्धान्त जो असंख्य विधि तथा निषेध की संस्तुति करने वाले हैं, उन लोगों के लिए भारतुल्य हैं, जो कृष्णभावनामृत से विहीन हैं। श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध (१.१.११) में कहा गया है—भूरीणि भूरिकर्माणि श्रोतव्यानिविभागशः—संसार में असंख्य धार्मिक शास्त्र हैं, जो असंख्य धार्मिक कर्तव्यों की संस्तुति करते हैं। जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है

प्रामाणिक शास्त्र वे हैं, जो भगवान् द्वारा या उनके प्रतिनिधियों द्वारा कहे गये हैं। *भगवद्गीता* के अन्तिम अध्याय (१८.६६) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज*—मनुष्य को चाहिए कि संसारी शुद्धि के कष्टकर भार को त्याग कर भगवान् की प्रेमाभक्ति करे जिसमें हर बात सरल हो जाती है। *भगवद्गीता* (९.२) में कृष्ण ने यह भी कहा है—*सु-सुखं कर्तुमव्ययम्*—भक्तियोग-विधि, जो कि पूरी तरह भगवत्कृपा पर निर्भर है, अत्यन्त सुखप्रद है और सरलता से सम्पन्न होने वाली है। इसी प्रकार लोचनदास ठाकुर गाते हैं—

परम करुण, पहुँड़ दुइ जन

निताइ-गौरचन्द्र

सब अवतार-, सार-शिरोमणि

केवल आनन्दकाण्ड

श्री चैतन्य महाप्रभु, जो कि साक्षात् भगवान् कृष्ण हैं ५०० वर्ष पूर्व भगवन्नाम कीर्तन-विधि का वितरण करने के लिए प्रकट हुए थे। इस तरह कृत्रिम तपस्या का भार वहन करने के बजाय मनुष्य सीधे भगवान् की सेवा में लग सकता है, जिससे उसका हृदय स्वच्छ हो जाता है और तुरन्त ही दिव्य आनन्द का अनुभव होने लगता है। जिन लोगों ने चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन को ग्रहण किया है, वे चार मूल सिद्धान्तों का पालन करते हैं। ये हैं—अवैध यौन, मच्छली अण्डे एवं मांसाहार, नशे तथा जुए का परित्याग। वे प्रातःकाल जग जाते हैं, हरे कृष्ण कीर्तन करते हैं और भगवान् की सेवा में लगे रह कर सुखपूर्वक दिन बिताते हैं। किन्तु जो लोग वेदों के कर्मकांड अनुभाग का पालन करते हैं, वे असंख्य विधि-विधानों, अनुष्ठानों तथा उत्सवों से बोझिल रहते हैं, जिन्हें या तो स्वयं करना पड़ता है या योग्य ब्राह्मण से सम्पन्न कराना होता है। इसमें त्रुटि होने का हर क्षण भय बना रहता है, जिससे संचित पुण्य की पूर्ण क्षति हो सकती है। इसी तरह जो दार्शनिक मार्ग पर चलते हैं उन्हें दार्शनिक कोटियों की परिभाषा, परिष्कार तथा समंजन करना होता है। यह विधि ऐसी है, जिसका अन्त संशय तथा निराशा में होता है। योग का अभ्यास करने वाले कष्टप्रद तपस्या करते हैं और अपने को कठिन गर्मी तथा शीत, भूख इत्यादि से कष्ट पहुँचाते हैं। ऐसे सारे भौतिकतावादी लोगों को निजी इच्छाएँ पूरी करनी रहती हैं किन्तु भगवद्भक्त तो भगवान् के सुख की कामना करते हैं और भगवान् की कृपा पर

ही निर्भर रह कर भगवद्धाम जाते हैं। पिछले श्लोक में भगवान् ने यह उल्लेख किया है कि भौतिक जगत में अनन्त अन्तर हैं जिनका मूल्यांकन जीवन-भर किया जाना है। किन्तु भक्त तो हर वस्तु के भीतर कृष्ण को और कृष्ण के भीतर हर वस्तु को देखता है और भगवान् की सेवा में लगा रह कर विनीत, सरल तथा आनन्दित बना रहता है। वह न तो महान् धार्मिक उत्सव सम्पन्न करता है, न ही समाजविरोधी या अनैतिक बनता है। वह केवल कृष्ण-नाम कीर्तन करता है और सरलता से जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त कर लेता है। सामान्य व्यक्ति शारीरिक भरण-पोषण के लिए उद्योग करते हैं किन्तु भक्त तो भगवान् की कृपा से स्वतः लालित-पालित होता है। उसके सामान्य आचार-विचार तथा धार्मिक कृत्य भी भगवान् को अर्पित रहते हैं और इस तरह भक्त के जीवन में कृष्ण के अतिरिक्त कुछ भी नहीं रहता। कृष्ण उसकी रक्षा तथा पालन करते हैं और भक्त अपनी हर वस्तु कृष्ण को प्रदान करता है। यह स्वाभाविक मुक्त अवस्था कृष्णभावनामृत कहलाती है। यही चरम शुभ है जैसाकि भगवान् इस पूरे स्कन्ध में बतलाते रहे हैं।

भूम्यम्ब्वग्न्यनिलाकाशा भूतानां पञ्चधातवः ।

आब्रह्मस्थावरादीनां शारीरा आत्मसंयुताः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

भूमि—पृथ्वी; अम्बु—जल; अग्नि—अग्नि; अनिल—वायु; आकाशाः—आकाश; भूतानाम्—सारे बद्धजीवों का; पञ्च—पाँच; धातवः—मूलभूत तत्त्व; आ-ब्रह्म—ब्रह्मा से लेकर; स्थावर-आदीनाम्—जड़ प्राणियों तक; शारीराः—शरीरों के निर्माण हेतु प्रयुक्त; आत्म—परमात्मा; संयुताः—समान रूप से सम्बन्धित।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश—ये पाँच मूलभूत तत्त्व हैं जिनसे ब्रह्मा से लेकर जड़ प्राणियों तक समस्त बद्धजीवों के शरीर बने हैं। ये सारे तत्त्व एक भगवान् से उद्भूत होते हैं।

तात्पर्य : सारे शरीर इन्हीं पाँच स्थूल तत्त्वों के, जो एक भगवान् से उद्भूत हैं, विभिन्न अनुपातों से बने हुए हैं और जीवों को आच्छादित किये रहते हैं।

गुण तथा दोष की संकल्पनाएँ भगवान् की चुनाव-इच्छा पर निर्भर करती हैं न कि भौतिक पदार्थों के गुणात्मक अन्तरों पर। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति सारी भौतिक घटनाओं को अंततः एकरूप देखता है। भौतिक जगत में भक्त का सदाचार, बुद्धिमय विवेक तथा कलात्मक भाव ईश्वर की इच्छा पर आश्रित होते हैं। सारे भौतिक तत्त्व भगवान् से उद्भूत होने के कारण अन्ततः अभिन्न होते हैं। किन्तु

सांसारिक अच्छाई (पुण्य) के समर्थक डरते रहते हैं कि यदि गुण-दोष के भौतिक द्वैत को कम करके बतलाया जायगा तो लोग अनैतिक अथवा अराजकतावादी बन जायेंगे। निश्चय ही आधुनिक विज्ञानी जिस निर्विशेष तथा नास्तिक दर्शन का प्रचार करते हैं, जिसमें भौतिक विविधता अणुओं-परमाणुओं के गणित-रूपी वर्णनों में ही सिमट जाती है, उससे अनैतिक समाज का जन्म होता है। यद्यपि भौतिक विज्ञान तथा वैदिक ज्ञान दोनों ही भौतिक विविधता के मोह का उद्घाटन करते हैं और समस्त भौतिक शक्ति की एकरूपता को बतलाते हैं, किन्तु मात्र कृष्ण-भक्त ही ईश्वर की इच्छा के परम पुण्य के प्रति समर्पित होते हैं। इस तरह वे सदैव ही समस्त जीवों के लाभ हेतु कर्म करते हैं और भगवान् की इच्छा के अनुसार भौतिक विविधता को भगवान् की सेवा के लिए स्वीकार करते हैं। कृष्णभावनामृत के बिना लोग आध्यात्मिक अच्छाई को नहीं समझ सकते। इसीलिए वे भौतिक स्तर पर परस्पर-निर्भर स्वार्थमय सभ्यता का निर्माण करने का प्रयास करते हैं। ऐसी मूर्खतापूर्ण व्यवस्था सरलता से ध्वस्त हो जाती है जैसाकि आधुनिक युग में व्याप्त सामाजिक संघर्ष तथा अव्यवस्था से प्रकट है। सभ्य समाज के सारे सदस्यों को भगवान् की परम सत्ता को स्वीकार करना चाहिए, तभी सामाजिक शान्ति तथा भाईचारा सांसारिक पाप-पुण्य के मलिन सम्बन्धों पर आश्रित नहीं रहेगा।

वेदेन नामरूपाणि विषमाणि समेष्वपि ।

धातुषूद्धव कल्प्यन्त एतेषां स्वार्थसिद्धये ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

वेदेन—वैदिक वाङ्मय द्वारा; नाम—नाम; रूपाणि—तथा रूप; विषमाणि—भिन्न; समेषु—जो समान हैं; अपि—निस्सन्देह; धातुषु—पाँच तत्त्वों (से बने शरीरों) में; ऊद्धव—हे ऊद्धव; कल्प्यन्ते—बने हुए हैं; एतेषाम्—इनमें से, जीव; स्व-अर्थ—निजी लाभ की; सिद्धये—प्राप्ति के लिए।

हे ऊद्धव, यद्यपि सारे शरीर इन्हीं पाँच तत्त्वों से बने हैं और इसीलिए समान हैं, किन्तु वैदिक ग्रंथ ऐसे शरीरों की कल्पना भिन्न भिन्न नामों तथा रूपों में करते हैं जिससे जीव अपने जीवन-लक्ष्य प्राप्त कर सकें।

तात्पर्य : नामरूपाणि विषमाणि द्योतक है वर्णाश्रम धर्म का जिसमें मानव समाज के सारे सदस्यों को चार वर्णों तथा चार आश्रमों के अनुसार उपाधि दी जाती है। जो लोग बौद्धिक या धार्मिक सिद्धि में लगे रहते हैं, वे ब्राह्मण कहलाते हैं; जो राजनीतिक सिद्धि की साधना में लगे रहते हैं, वे क्षत्रिय कहलाते हैं; जो आर्थिक सिद्धि में लगे रहते हैं, वे वैश्य कहलाते हैं और जो खाने, सोने, संभोग तथा

ईमानदार कर्म में लगे रहते हैं, वे शूद्र कहलाते हैं। ऐसी मनोवृत्तियाँ प्रकृति के तीन गुणों (सतो, रजो तथा तमो) से उत्पन्न होती हैं, क्योंकि शुद्ध आत्मा बौद्धिक, शक्ति का इच्छुक, अध्यवसायी या नीच नहीं होता। वह तो सदैव भगवान् की प्रेमाभक्ति में लीन रहता है। यदि बद्धजीव की विभिन्न मनोवृत्तियाँ वर्णाश्रम प्रणाली में संयोजित नहीं होतीं तो उनका निश्चय ही दुरुपयोग होता है, जिससे मनुष्य मनुष्य-जीवन के आदर्श से नीचे गिर जाता है। वैदिक प्रणाली भगवान् द्वारा इसलिए सुयोजित की गई है कि बद्धजीव अपने अपने कार्यों में लगे रहें और उसी के साथ साथ जीवन के चरम लक्ष्य—कृष्णभावनामृत—की ओर अग्रसर होते रहें। जिस प्रकार एक वैद्य एक विक्षिप्त व्यक्ति से उसके मिथ्या जीवन-बोध को ध्यान में रख कर दयापूर्ण बर्ताव करता है, उसी तरह वैदिक वाङ्मय को समझने वाला व्यक्ति जीवों को भौतिक तत्त्वों के साथ उनकी मोहमयी पहचान के अनुसार कार्य में लगाता है। यद्यपि सारे शरीर उन्हीं भौतिक तत्त्वों से बने होते हैं, अतएव गुणात्मक रूप से एक-से होते हैं, जैसाकि *समेषु* शब्द द्वारा यहाँ सूचित हुआ है, किन्तु वर्णाश्रम की सृष्टि सारे मनुष्यों को उनकी अपनी अपनी भौतिक पहचानों के अनुसार कृष्णभावनामृत में लगाने के लिए की गई है। परम गुण तो स्वयं भगवान् हैं और जो कोई भगवान् के पास पहुँच जाता है, वह भी उसी तरह गुण बन जाता है। चूँकि इस संसार में उष्मा का उद्गम सूर्य है, अतएव जो वस्तु सूर्य के पास पहुँचती है, वह गर्म होती जाती है जब तक कि वह अन्त में अग्नि में लीन न हो जाये। उसी तरह ज्यों ज्यों हम भगवान् के दिव्य स्वभाव के पास पहुँचते हैं, त्यों त्यों हममें स्वतः परम अच्छाई आती जाती है। यद्यपि यही ज्ञान वैदिक वाङ्मय का असली आधार है, तो भी संसारी पुण्य का आदेश मिलता है और पाप का निषेध मिलता है, जिससे मनुष्य भौतिक अच्छाई प्राप्त कर सके जहाँ पर उसे आध्यात्मिक ज्ञान दृष्टिगोचर होगा।

देशकालादिभावानां वस्तूनां मम सत्तम ।

गुणदोषौ विधीयेते नियमार्थं हि कर्मणाम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

देश—स्थान; काल—समय; आदि—इत्यादि; भावानाम्—भावों का; वस्तूनाम्—वस्तुओं का; मम—मेरा; सत्-तम—हे परम सन्त उद्भव; गुण-दोषौ—पुण्य तथा पाप; विधीयेते—स्थापित किये जाते हैं; नियम-अर्थम्—प्रतिबन्ध के लिए; हि—निश्चय ही; कर्मणाम्—सकाम कर्मों के।

हे सन्त उद्भव, मैंने भौतिकतावादी कर्मों पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए यह सुनिश्चित कर दिया

है कि देश, काल तथा सारी भौतिक वस्तुओं में से कौन उचित है और कौन अनुचित है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *नियमार्थम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। बद्धजीव अपनी झूठी पहचान अपनी इन्द्रियों से करता है, अतएव जो वस्तु शरीर को तुरन्त तुष्टि प्रदान करती है उसे वह अच्छी (गुण) और जो असुविधाजनक या विक्षोभ लाने वाली हो उसे बुरी (दोष) मानता है। किन्तु उच्चतर बुद्धि से मनुष्य दीर्घकालीन हित या अनाहित को पहचानता है। उदाहरणार्थ, कोई दवा पीते समय कड़वी लग सकती है, किन्तु दीर्घकालीन हित को ध्यान में रख कर मनुष्य दवा पी लेता है, जिससे वह अभी कष्ट न देने वाले किन्तु अन्ततः घातक होने वाले रोग से छुटकारा पा सके। इसी तरह वैदिक वाङ्मय संसार की सारी वस्तुओं तथा कार्यकलापों में से क्या उचित है और क्या अनुचित है इसकी स्थापना करके मनुष्यों की पापपूर्ण मनोवृत्तियों को प्रतिबंधित करता है। चूँकि हर व्यक्ति को भोजन करना चाहिए इसलिए वेद सतोगुणी भोजन की संस्तुति करते हैं, मांस, मछली, अंडा जैसे भोजन की नहीं जो पापमय हैं। इसी तरह यह सलाह दी जाती है कि मनुष्य शान्त तथा पवित्र समुदाय में रहे, पापी लोगों की संगति में न रहे, न ही गन्दे या उत्तेजक वातावरण में रहे। भौतिक जगत को उपाधि देकर और उसके शोषण पर प्रतिबन्ध लगाकर वैदिक ज्ञान बद्धजीव को क्रमशः सतोगुण के स्तर पर लाता है। उस अवस्था में मनुष्य भगवान् की सेवा करने के और जीवन की दिव्य अवस्था में प्रवेश करने के योग्य बन जाता है। किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि इस तरह की मात्र उपयुक्तता वास्तविक योग्यता नहीं हो सकती। कृष्णभावनामृत के बिना कोरा भौतिक पुण्य बद्धजीव को भगवद्धाम जाने के योग्य नहीं बना सकता। इस जगत में हम सारे के सारे लोग मिथ्या अहंकार से ग्रस्त हैं जिसे वैदिक आदेशों के सामने नतमस्तक होकर कम करना ही चाहिए। जो व्यक्ति भगवद्भक्ति में पूरी तरह लगा हो उसके लिए इन प्रारम्भिक विधियों को ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं होती क्योंकि वह आत्म-समर्पण द्वारा भगवान् से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित कर लेता है। पिछले श्लोक में भगवान् ने बतलाया कि विभिन्न जीवों के शरीरों को वैदिक वाङ्मय विभिन्न मूल्य क्यों प्रदान करता है। यहाँ पर वे इन शरीरों से अन्तःक्रिया करने वाली भौतिक वस्तुओं के परिप्रेक्ष्य में वैदिक मूल्यांकन बतला रहे हैं।

अकृष्णासारो देशानामब्रह्मण्योऽसुचिर्भवेत् ।

कृष्णासारोऽप्यसौवीरकीकटासंस्कृतेरिणम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अकृष्ण-सारः—धब्बारहित बारहसिंगा; देशानाम्—स्थानों में; अब्रह्मण्यः—जहाँ ब्राह्मणों के प्रति भक्ति-भाव नहीं है; अशुचिः—दूषित; भवेत्—है; कृष्ण-सारः—काले धब्बों वाले बारहसिंगे; अपि—भी; असौवीर—साधु स्वभाव वाले व्यक्तियों से रहित; कीकट—गया प्रदेश (जहाँ निम्न जाति के लोग रहते हैं); असंस्कृत—जहाँ के लोग संस्कार या स्वच्छता नहीं बरतते; ईरणम्—जहाँ की भूमि बंजर है।

स्थानों में से वे स्थान दूषित माने जाते हैं, जो धब्बेदार बारहसिंगों से रहित हैं, जो ब्राह्मणों के प्रति भक्ति से रहित है, जहाँ धब्बेदार बारहसिंगे होते हैं, किन्तु जो सम्माननीय व्यक्तियों से रहित होते हैं तथा कीकट जैसे प्रदेश एवं वे स्थान जहाँ स्वच्छता तथा संस्कारों की अवहेलना की जाती है, जहाँ मांस-भक्षकों का प्राधान्य होता है या जहाँ पृथ्वी बंजर होती है।

तात्पर्य : कृष्णसार शब्द धब्बेदार बारहसिंगे का सूचक है, जिसका चर्म ब्रह्मचारी वटु, गुरु आश्रम में निवास करते समय पहनते हैं। ब्रह्मचारी कभी जंगल में शिकार नहीं करते अपितु मरे हुए बारहसिंगों का चर्म ग्रहण करते हैं। धब्बेदार अर्थात् श्याम-बारहसिंगे का चर्म वैदिक यज्ञ के समय दीक्षा ग्रहण करने वाले भी धारण करते हैं। चूँकि ऐसे प्राणियों से विहीन स्थानों में ठीक से यज्ञ नहीं किये जा सकते, इसलिए ऐसे स्थान अशुद्ध हैं। इतना ही नहीं, भले ही किसी स्थान के निवासी सकाम कर्म तथा अनुष्ठानिक यज्ञ करने में पटु हों, किन्तु यदि वे भगवद्भक्ति से द्वेष रखते हैं, तो भी ऐसा स्थान दूषित है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बतलाते हैं कि पहले बिहार तथा बंगाल प्रान्त भगवद्भक्ति से रहित थे अतः वे अशुद्ध माने जाते थे। तत्पश्चात् जब जयदेव जैसे महान् वैष्णव इन स्थानों में उत्पन्न हुए तो उन्होंने इन प्रान्तों को पवित्र स्थल बना दिया।

असौवीर शब्द उन स्थानों का सूचक है, जो सौवीर अर्थात् सम्मान्य साधु पुरुषों से विहीन हैं। सामान्यतया जो व्यक्ति राज्य के नियमों का पालन करता है, वह सम्मान्य नागरिक माना जाता है। इसी तरह जो व्यक्ति ईश्वर के नियमों का दृढ़ता से पालन करता है, वह सुवीर अर्थात् संस्कृत या सभ्य व्यक्ति माना जाता है। और जिस स्थान पर ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति रहते हैं, वह सौवीरम् कहलाता है। कीकट वर्तमान बिहार राज्य का द्योतक है, जो परम्परा से असभ्य लोगों की रियासत माना गया है। किन्तु ऐसे प्रान्तों में भी, जिस स्थान पर सन्त पुरुष एकत्र हों, पवित्र माना जाता है। दूसरी ओर, सम्मान्य व्यक्तियों वाला प्रान्त भी पापी लोगों की उपस्थिति से तुरन्त दूषित हो जाता है। असंस्कृत सूचक है बाहरी सफाई के अभाव तथा आन्तरिक सफाई के संस्कारों की अनुपस्थिति का। श्रील मध्वाचार्य ने स्कन्द पुराण से उद्धरण दिया है “ धार्मिक व्यक्तियों को नदियों, सागरों, पर्वतों, कुटियों, जंगलों, आध्यात्मिक शहरों या

उन स्थानों से आठ मील के घेरे के अन्दर रहना चाहिए जहाँ शालग्राम शिला पाया जाय। अन्य सारे स्थलों को कीकट अर्थात् दूषित समझा जाय। किन्तु यदि ऐसे दूषित स्थानों में भी श्याम-बारहसिंगे पाये जाँय तो वहाँ तब तक रहा जा सकता है जब तक पापी लोग वहाँ उपस्थित न हों। किन्तु यदि व्यावहारिक अधिकार सम्मानित अधिकारियों के हाथ में हो तो पापी लोगों के उपस्थित होने पर भी वहाँ रहा जा सकता है। इसी तरह जहाँ कहीं विष्णु का अर्चा-विग्रह विधिपूर्वक संस्थापित होकर पूजा जाता है, वहाँ रहा जा सकता है।”

यहाँ पर भगवान् पुण्य तथा पाप की विस्तृत व्याख्या करते हैं, जो शुद्धि तथा अशुद्धि पर आधारित हैं। इसीलिए यहाँ शुद्ध तथा दूषित वास-स्थानों का वर्णन हुआ है।

कर्मण्यो गुणवान्कालो द्रव्यतः स्वत एव वा ।

यतो निवर्तते कर्म स दोषोऽकर्मकः स्मृतः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

कर्मण्यः—नियत कार्य करने के लिए अनुकूल; गुणवान्—शुद्ध; कालः—समय; द्रव्यतः—शुभ वस्तुओं की प्राप्ति से; स्वतः—अपने आप; एव—निस्सन्देह; वा—अथवा; यतः—जिस (काल) के कारण; निवर्तते—अवरुद्ध होता है; कर्म—कर्तव्य; सः—वह (काल); दोषः—अशुद्ध; अकर्मकः—उचित ढंग से कर्म करने के लिए अनुपयुक्त; स्मृतः—माना जाता है।

कोई विशेष काल तब शुद्ध माना जाता है जब वह अपने स्वभाव से अथवा उपयुक्त साज-सामग्री प्राप्त होने से मनुष्य के नियत कर्तव्य को करने के लिए उपयुक्त हो। वह काल जो किसी के कर्तव्य में बाधक हो अशुद्ध माना जाता है।

तात्पर्य : शुद्ध तथा अशुद्ध स्थानों की व्याख्या करने के बाद अब भगवान् काल के विभिन्न गुणों की व्याख्या कर रहे हैं। कुछ काल, यथा ब्राह्म मूहूर्त, सूर्योदय से कुछ घण्टे पूर्व, आध्यात्मिक उन्नति के लिए शुभ माने जाते हैं। अन्य काल, जो स्वयं में शुभ नहीं होते, वे भौतिक सम्पन्नता प्राप्त होने पर शुभ बन जाते हैं जिससे जीवन-लक्ष्य सरल हो जाता है।

राजनैतिक, सामाजिक या आर्थिक उत्पात, जिनसे धार्मिक कार्यों को सम्पन्न करने में रुकावट उत्पन्न हो, अशुभ काल माने जाते हैं। इसी तरह प्रसव के तुरन्त बाद या ऋतुकाल में स्त्री दूषित मानी जाती है। वह ऐसे अवसरों पर सामान्य धार्मिक कर्म नहीं कर सकती, इसलिए ये अशुभ तथा अशुद्ध काल माने जाते हैं। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बतलाते हैं कि समस्त कालों में वह क्षण सबसे शुभ होता है जब मनुष्य को भगवत्कृपा प्राप्त होती है। यदि वह इन्द्रियतृप्ति के वशीभूत होकर

भगवद्भक्ति की उपेक्षा करता है, तो वह निश्चित रूप से अशुभ काल में रहता है। इसीलिए जिस क्षण उसे भगवान् या भगवान् के भक्त की संगति प्राप्त होती है, वह सर्वाधिक अशुभ काल है और ऐसी संगति को खो देना सर्वाधिक अशुभ काल है। दूसरे शब्दों में, जीवन की सिद्धि एकमात्र कृष्णभावनामृत है, जिससे मनुष्य भौतिक प्रकृति के तीन गुणों द्वारा उत्पन्न काल तथा देश के द्वैतों को पार कर सकता है।

द्रव्यस्य शुद्ध्यशुद्धी च द्रव्येण वचनेन च ।

संस्कारेणाथ कालेन महत्वाल्पतयाथ वा ॥ १० ॥

शब्दार्थ

द्रव्यस्य—एक वस्तु की; शुद्धि—शुद्धि, शुद्धता; अशुद्धी—या अशुद्धि; च—तथा; द्रव्येण—अन्य वस्तु से; वचनेन—वाणी से; च—तथा; संस्कारेण—संस्कार द्वारा; अथ—या; कालेन—काल द्वारा; महत्व-अल्पतया—महानता या लघुता द्वारा; अथ वा—अथवा, या कि।

किसी वस्तु की शुद्धि या अशुद्धि की स्थापना दूसरी वस्तु के सम्प्रयोग से, शब्दों से, अनुष्ठानों (संस्कारों) से, काल के प्रभाव से अथवा आपेक्षिक महत्त्व से की जाती है।

तात्पर्य : वस्त्र स्वच्छ जल से शुद्ध होता है और मूत्रादि से अशुद्ध हो जाता है। साधु ब्राह्मण के शब्द शुद्ध होते हैं। किन्तु भौतिकतावादी व्यक्ति के शब्द काम तथा द्वेष से दूषित रहते हैं। साधु भक्त वास्तविक शुद्धि की व्याख्या अन्यो से करता है किन्तु अभक्त झूठा प्रचार करता है, जिससे अबोध लोग दूषित पापकृत्य करने लगते हैं। शुद्ध अनुष्ठान भगवान् की तुष्टि हेतु होते हैं जबकि भौतिकतावादी उत्सवों से लोग भौतिकतावादी तथा आसुरी कृत्य करने लगते हैं। संस्कारेण शब्द यह भी सूचित करता है कि किसी वस्तु की शुद्धि या अशुद्धि अनुष्ठानों को पूरा करने के विधि-विधानों द्वारा निश्चित की जाती है। उदाहरणार्थ, देव पर चढ़ाये जाने वाले फूल को जल से शुद्ध कर लेना चाहिए। सूँघे हुए फूल या चखे हुए फल दूषित हो जाते हैं अतः उन्हें देव पर नहीं चढ़ाना चाहिए। कालेन शब्द सूचित करता है कि कुछ वस्तुएँ काल द्वारा शुद्ध होती हैं, तो कुछ अशुद्ध। उदाहरणार्थ, वर्षाजल दस दिनों अथवा आपात्काल में तीन दिनों के बाद शुद्ध माना जाता है। दूसरी ओर कुछ भोजन समय के साथ सड़ने लगते हैं और इस तरह अशुद्ध बन जाते हैं। महत्त्व सूचित करता है कि बड़े बड़े जलाशय दूषित नहीं होते। अल्पतया का अर्थ है कि थोड़ी मात्रा में जल आसानी से दूषित हो जाता है। इसी तरह महात्माजन भौतिकतावादी व्यक्तियों के यदाकदा सम्पर्क से दूषित नहीं होते किन्तु जो व्यक्ति बहुत

थोड़ी ईश्वर-भक्ति करते होते हैं, वे कुसंगति में पड़ कर आसानी से संशयग्रस्त हो उठते हैं। इस तरह सारे पदार्थों की शुद्धि तथा अशुद्धि को अन्य वस्तुओं के संमेल से तथा वाणी, संस्कार, काल एवं महत्त्व के अनुसार निश्चित किया जा सकता है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टिप्पणी है कि अशुद्ध या सड़ा अथवा बासी भोजन सामान्य व्यक्तियों के लिए तो वर्जित है किन्तु जिनके लिए कोई जीविका-साधन न हो, उनके लिए क्षम्य है।

शक्त्याशक्त्याथ वा बुद्ध्या समृद्ध्या च यदात्मने ।

अघं कुर्वन्ति हि यथा देशावस्थानुसारतः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

शक्त्या—सापेक्ष शक्ति से; अशक्त्या—क्लीवता, नपुंसकता; अथ वा—या; बुद्ध्या—बुद्धि से; समृद्ध्या—ऐश्वर्य से; च—तथा; यत्—जो; आत्मने—अपने से; अघम्—पापकर्म; कुर्वन्ति—करते हैं; हि—निस्सन्देह; यथा—वास्तव में; देश—स्थान; अवस्था—अथवा अपनी दशा के; अनुसारतः—अनुसार।

किसी व्यक्ति की शक्ति अथवा दुर्बलता, बुद्धि, सम्पत्ति, स्थान तथा भौतिक स्थिति के अनुसार उस व्यक्ति पर अशुद्ध वस्तुएँ पाप लगा सकती हैं अथवा नहीं भी लगा सकतीं।

तात्पर्य : भगवान् ने विभिन्न देशों, कालों तथा वस्तुओं की शुद्धि तथा अशुद्धि का वर्णन किया है। प्रकृति के नियमानुसार जो अशुद्ध है, वह किसी मनुष्य को उसके पद के अनुसार दूषित कर सकती है जैसाकि यहाँ वर्णित है। उदाहरणार्थ, विशेष अवसरों पर, यथा सूर्य-ग्रहण पर या शिशु के जन्म के तुरन्त बाद कर्मकाण्डीय आदेशों के अनुसार भोजन नहीं ग्रहण करना चाहिए। किन्तु यदि कोई शारीरिक रूप से क्षीण है, तो वह भोजन कर सकता है; उसे अशुद्ध नहीं माना जाता। सामान्य लोग शिशु-जन्म के बाद के दस दिन अत्यन्त शुभ मानते हैं किन्तु जो विद्वान है, वह जानता है कि यह अवधि वस्तुतः अशुद्ध होती है। इस नियम से अनभिज्ञता के कारण कोई दण्ड पाने से नहीं बच सकता, किन्तु जो जान-बूझकर पाप करता है, वह अत्यन्त पतित माना जाता है। जहाँ तक समृद्धि की बात है, फटे-पुराने तथा मैले-कुचैले वस्त्र या अस्त-व्यस्त आवास किसी धनी व्यक्ति के लिए अशुद्ध हो सकते हैं किन्तु निर्धन के लिए ये ग्राह्य होते हैं। देश शब्द सूचित करता है कि सुरक्षित तथा शान्त स्थान में धार्मिक अनुष्ठान करने के लिए मनुष्य बाध्य है किन्तु संकटपूर्ण अथवा अशान्त स्थिति होने पर गौण नियमों की यदाकदा उपेक्षा क्षम्य है। स्वस्थ व्यक्ति को चाहिए कि देवताओं को नमस्कार करे, धार्मिक उत्सवों में सम्मिलित हो और अपने नियत कर्म करे किन्तु एक बालक या रोगी व्यक्ति को ऐसे कर्म न

करने की छूट दी जाती है जैसाकि अवस्था शब्द से सूचित होता है। अन्ततः, जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

“मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् कृष्ण की दिव्य भक्ति अनुकूल होकर और सकाम कर्म या मानसिक चिन्तन के द्वारा भौतिक लाभ की किसी आकांक्षा से रहित होकर करे। यही शुद्ध भक्ति कहलाती है।” (भक्तिरसामृतसिंधु १.१.११) जो वस्तु भगवान् कृष्ण की भक्ति के अनुकूल हो, उसे स्वीकार करे और जो अनुकूल न हो उसका बहिष्कार कर दे। वह प्रामाणिक गुरु से ईश्वर की सेवा करने की विधि सीखे और अपने जीवन को सदैव शुद्ध तथा चिन्तामुक्त रखे। किन्तु भौतिक वस्तुओं की सापेक्ष शुद्धि तथा अशुद्धि पर विचार करते समय सामान्यतया उपर्युक्त सारी बातों को ध्यान में रखे।

धान्यदार्विस्थितन्तूनां रसतैजसचर्मणाम् ।

कालवाय्वग्निमृत्तोयैः पार्थिवानां युतायुतैः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

धान्य—अन्न; दारु—लकड़ी (सामान्य तथा पवित्र पात्रों के रूप में); अस्थि—हड्डी (यथा हाथी-दाँत); तन्तूनाम्—तथा धागे की; रस—द्रव (तेल, घी इत्यादि); तैजस—तेजवान वस्तुएँ (यथा स्वर्ण); चर्मणाम्—तथा चमड़े की; काल—समय; वायु—हवा; अग्नि—आग; मृत्—मिट्टी; तोयैः—तथा जल से; पार्थिवानाम्—(तथा) मिट्टी की बनी वस्तुओं (यथा चक्र, पात्र, ईंट); युत—से युक्त; आयुतैः—या पृथक्-पृथक् ।

अन्न, लकड़ी के पात्र, अस्थि से बने पदार्थ, धागे, द्रव, अग्नि से प्राप्त वस्तुएँ, चमड़े तथा मिट्टी से बनी वस्तुएँ—ये सब काल, वायु, अग्नि, पृथ्वी तथा जल के द्वारा अलग अलग से अथवा उनके मिल जाने से शुद्ध हो जाती हैं।

तात्पर्य : यहाँ काल का उल्लेख हुआ है क्योंकि सारे संस्कार काल के भीतर ही घटित होते हैं।

अमेध्यलिप्तं यद्येन गन्धलेपं व्यपोहति ।

भजते प्रकृतिं तस्य तच्छौचं तावदिष्यते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अमेध्य—अशुद्ध वस्तु से; लिप्तम्—छू कर; यत्—जो वस्तु; येन—जिससे; गन्ध—दुर्गन्ध; लेपम्—तथा अशुद्ध लेप; व्यपोहति—त्याग देती है; भजते—दूषित वस्तु पुनः धारण कर लेती है; प्रकृतिम्—अपना पूर्व स्वभाव; तस्य—उस वस्तु का; तत्—वह प्रयोग; शौचम्—शुद्धीकरण; तावत्—उस हद तक; इष्यते—माना जाता है।

कोई शुद्ध करने वाला पदार्थ तब उपयुक्त माना जाता है जब उसके लगाने से किसी दूषित

वस्तु की दुर्गंध या गन्दी परत हट जाय और वह अपने पूर्व स्वभाव को प्राप्त कर ले।

तात्पर्य : लकड़ी का सामान, रसोई के बर्तन, वस्त्र तथा अन्य वस्तुओं को मल कर, क्षार या अम्ल अथवा जल के द्वारा शुद्ध किया जाता है। इससे उन वस्तुओं की दुर्गंध अथवा अशुद्ध परत निकल जाती है और वे अपने पूर्व स्वच्छ रूप को प्राप्त कर लेती है।

स्नानदानतपोऽवस्थावीर्यसंस्कारकर्मभिः ।

मत्स्मृत्या चात्मनः शौचं शुद्धः कर्माचरेद्दिवजः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

स्नान—नहाना; दान—दान देना; तपः—तपस्या; अवस्था—तथा अपनी उम्र के कारण; वीर्य—सामर्थ्य; संस्कार—संस्कार द्वारा; कर्मभिः—तथा नियत कार्यों से; मत्-स्मृत्या—मेरा स्मरण करके; च—भी; आत्मनः—आत्मा की; शौचम्—शुद्धि; शुद्धः—शुद्ध; कर्म—कर्म; आचरेत्—करे; द्विजः—द्विजन्मा मनुष्य।

स्नान, दान, तप, आयु, निजी बल (सामर्थ्य), संस्कार, नियत कर्म तथा इन सबसे ऊपर मेरे स्मरण द्वारा आत्म-शुद्धि की जा सकती है। ब्राह्मण तथा अन्य द्विजातियों को अपना अपना विहित कर्म करने के पूर्व ठीक से शुद्ध हो लेना चाहिए।

तात्पर्य : अवस्था शब्द सूचित करता है कि जब बालक तथा बालिकाएँ छोटे हों, तो उन्हें बालपन की अबोधता द्वारा शुद्ध रखा जाता है और जब वे बड़े हो जाते हैं, तो उचित शिक्षा तथा कार्य में लगाकर शुद्ध रखा जा सकता है। मनुष्य को अपनी सामर्थ्य के बल पर पापकर्मों तथा इन्द्रियतृप्ति की ओर उन्मुख लोगों की संगति से बचना चाहिए। कर्म यहाँ पर नियत या विहित कर्तव्यों का यथा गुरु तथा अर्चा-विग्रह के पूजन, नित्य तीन समय गायत्री मंत्र का जप तथा दीक्षा ग्रहण करने का द्योतक है। वर्णाश्रम प्रणाली के नियत कर्म स्वतः मनुष्य को अपनी शारीरिक उपाधियों को उपयुक्त धार्मिक कार्यों में लगाकर मिथ्या अहंकार के आवरण से शुद्ध कर देते हैं। ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों, ब्रह्मचारियों, गृहस्थों, वानप्रस्थों तथा संन्यासियों के विशिष्ट कर्मों का वर्णन पहले ही भगवान् इस स्कन्ध में कर चुके हैं। यहाँ पर सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द मत्स्मृत्या है। अन्ततोगत्वा कृष्णभावनामृत के अतिरिक्त अन्य किसी विधि से मोह के दूषण से बचा नहीं जा सकता। प्रकृति के गुणों में शाश्वत अन्तःक्रिया होती रहती है, जिससे मनुष्य कभी तमोगुण में जा गिरता है, तो कभी सतोगुण को प्राप्त करता है। इस तरह वह माया-जगत में व्यर्थ ही चक्कर लगाता है। किन्तु कृष्णभावनामृत द्वारा वह परब्रह्म की इच्छा के विरुद्ध कर्म करने की अपनी प्रवृत्ति को उखाड़ कर फेंक सकता है। तब वह माया के पाश से मुक्त हो

जाता है और भगवद्धाम को प्राप्त होता है। जैसाकि *गरुड़ पुराण* में कहा गया है—

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।

यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरे शुचिः ॥

“कोई चाहे शुद्ध हो, दूषित हो और उसकी बाह्य स्थिति चाहे जैसी हो यदि वह कमलनेत्र भगवान् का स्मरण करता है, तो अपने जीवन को बाहर तथा भीतर से स्वच्छ कर सकता है।”

श्री चैतन्य महाप्रभु ने संस्तुति की है कि हम भगवान् के नामों का निरन्तर कीर्तन करें। हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे। अपने जीवन को शुद्ध बनाने के लिए इच्छुक हर व्यक्ति के लिए यह दिव्य विधि अनिवार्य है।

मन्त्रस्य च परिज्ञानं कर्मशुद्धिर्मदर्पणम् ।

धर्मः सम्पद्यते षड्भिरधर्मस्तु विपर्ययः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

मन्त्रस्य—मंत्र (की शुद्धि) का; च—तथा; परिज्ञानम्—सही ज्ञान; कर्म—कर्म की; शुद्धिः—शुद्धि; मत्-अर्पणम्—मुझे अर्पित करना; धर्मः—धार्मिकता; सम्पद्यते—प्राप्त की जाती है; षड्भिः—छः के (स्थान, काल, वस्तु, कर्ता, मंत्र तथा कर्म की शुद्धि) द्वारा; अधर्मः—अधर्म; तु—लेकिन; विपर्ययः—अन्यथा।

मंत्र तब शुद्ध होता है जब उसका सही सही उच्चारण किया जाय तथा कोई कर्म तब शुद्ध बनता है, जब वह मुझे अर्पित किया जाय। इस तरह स्थान, काल, वस्तु, कर्ता, मंत्र तथा कर्म की शुद्धि से मनुष्य धार्मिक बनता है और इन छहों की उपेक्षा करने से, वह अधार्मिक माना जाता है।

तात्पर्य : मंत्र को प्रामाणिक गुरु से ग्रहण किया जाता है, जो शिष्य को मंत्र की विधि, अर्थ और चरम उद्देश्य बतलाता है। इस युग में प्रामाणिक गुरु अपने शिष्य को *महामन्त्र* देता है अर्थात् हरे कृष्ण मंत्र देता है। जो व्यक्ति अपने को भगवान् का दास मानते हुए इस मंत्र का कीर्तन करता है, वह धीरे धीरे निरपराध विधि से कीर्तन करना सीख जाता है और ऐसे शुद्ध कीर्तन से वह जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करता है। यहाँ पर भगवान् शुद्धि तथा अशुद्धि विषयक अपनी व्याख्या की समाप्ति करते हैं, जो अन्ततः धार्मिक तथा अधार्मिक जीवन के रूप में प्रकट होती हैं।

क्वचिद्गुणोऽपि दोषः स्याद्दोषोऽपि विधिना गुणः ।

गुणदोषार्थनियमस्तद्धिदामेव बाधते ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; गुणः—पुण्य; अपि—भी; दोषः—पाप; स्यात्—बन जाता है; दोषः—पाप; अपि—भी; विधिना—वैदिक आदेश के बल पर; गुणः—पुण्य; गुण-दोष—पुण्य तथा पाप में; अर्थ—के मामले में; नियमः—विधान; तत्—उनके; भिदाम्—अन्तर; एव—वास्तव में; बाधते—नष्ट करता है।

कभी पुण्य पाप बनता है और कभी वैदिक आदेशों के बल पर पाप पुण्य बन जाता है। ऐसे विशिष्ट नियमों से पुण्य और पाप का स्पष्ट अन्तर मिट जाता है।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् स्पष्ट बतलाते हैं कि भौतिक पुण्य तथा पाप सापेक्ष मान्यताएँ हैं। उदाहरणार्थ, यदि पड़ोसी के घर में आग लगी हो और यदि कोई व्यक्ति घर में छेद करके फँसे हुए परिवार को निकाल लाता है, तो उस संकट की स्थिति के कारण वह व्यक्ति पवित्र वीर माना जाता है। किन्तु सामान्य स्थिति में कोई व्यक्ति किसी के घर में छेद करता है, या पड़ोसी की खिड़की तोड़ देता है, तो वह अपराधी माना जाता है। इसी तरह जो व्यक्ति अपनी पत्नी तथा बच्चों को छोड़ देता है, वह गैर-जिम्मेदार तथा विचारहीन व्यक्ति माना जाता है। किन्तु यदि वही व्यक्ति संन्यास लेता है और अपने उच्च पद पर बना रहता है, तो वह अत्यन्त साधु पुरुष माना जाता है। अतएव पुण्य तथा पाप विशेष परिस्थितियों पर निर्भर होते हैं और कभी कभी उनमें भेद कर पाना कठिन हो जाता है।

श्रील मध्वाचार्य के अनुसार चौदह वर्ष से अधिक आयु के व्यक्ति अच्छे तथा बुरे में अन्तर करने में समर्थ हो जाते हैं, अतएव वे अपने पवित्र तथा पापपूर्ण कार्यों के लिए स्वयं जिम्मेदार हैं। इसके विपरीत, अज्ञान में मग्न पशुओं को न तो उनके अपराधों के लिए दोष दिया जा सकता है न तथाकथित अच्छे गुणों के लिए, जो कि अज्ञानजन्य हैं, प्रशंसित किया जा सकता है। जो मनुष्य यह सोच कर कि जैसा चाहो करो और उसके लिए किसी तरह का दोष स्वीकार न करो, पशुओं जैसा कर्म करते हैं, उन्हें अज्ञान-रत पशुओं के रूप में जन्म लेना पड़ेगा। यही नहीं, कुछ अन्य मूर्ख व्यक्ति भी हैं, जो पुण्य तथा पाप की सापेक्षता को देख कर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि परम अच्छाई कहीं नहीं है। किन्तु यह समझ लेना चाहिए कि कृष्णभावनामृत सबसे अच्छा है क्योंकि इसमें उस परब्रह्म भगवान् के प्रति पूर्ण आज्ञाकारिता होती है, जिसकी अच्छाई शाश्वत तथा सर्वोपरि है। जो लोग भौतिक पुण्य तथा पाप का अध्ययन करना चाहते हैं, उन्हें अन्ततः विषय की सापेक्षता तथा परिवर्तनशीलता के कारण निराश होना पड़ता है। इसलिए मनुष्य को कृष्णभावनामृत का आध्यात्मिक पद प्राप्त करना चाहिए क्योंकि वही

विहित तथा सभी परिस्थितियों में पूर्ण है।

समानकर्माचरणं पतितानां न पातकम् ।

औत्पत्तिको गुणः सङ्गो न शयानः पतत्यधः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

समान—बराबर; कर्म—कर्म का; आचरणम्—सम्पन्न किया जाना; पतितानाम्—पतितों का; न—नहीं; पातकम्—पतन का कारण; औत्पत्तिकः—स्वभाव द्वारा निर्देशित; गुणः—सद्गुण बन जाता है; सङ्गः—भौतिक सान्निध्य; न—नहीं; शयानः—लेटा हुआ; पतति—गिरता है; अधः—और नीचे।

जिन कर्मों से एक उच्चासीन व्यक्ति नीचे गिरता है, उन्हीं के द्वारा वे व्यक्ति नीचे नहीं गिरते जो पहले से गिरे हुए (पतित) हैं। निस्सन्देह, जमीन पर लेटा रहने वाला व्यक्ति और नीचे कैसे गिर सकता है? वह भौतिक संगति, जो मनुष्य के अपने स्वभाव द्वारा आदिष्ट होती है, सद्गुण मानी जाती है।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् भौतिक पुण्य तथा पाप का निर्धारण करने में दुविधा का और अधिक वर्णन करते हैं। यद्यपि एक विरक्त संन्यासी के लिए स्त्री-संसर्ग अत्यन्त निन्दनीय है, किन्तु वही संसर्ग एक गृहस्थ के लिए पवित्र है क्योंकि अपनी स्त्री के पास उपयुक्त समय में प्रजनन करने के लिए उसे वैदिक आदेश प्राप्त है। इसी तरह यदि कोई ब्राह्मण सुरापान करता है, तो यह अत्यन्त निन्दनीय कर्म माना जाता है, किन्तु एक शूद्र, जो कि सीमा के अन्दर सुरापान करता है, आत्मसंयमी माना जाता है। अतः भौतिक स्तर पर, पुण्य और पाप आपेक्षिक विचार हैं। किन्तु दीक्षा प्राप्त करने वाले किसी भी व्यक्ति को चार नियमों का कड़ाई से पालन करना होता है। ये हैं—मांस, मछली या अंडे न खाना, अवैध यौन का परित्याग, नशा न करना तथा जुआ न खेलना। यदि कोई दीक्षा-प्राप्त व्यक्ति इन नियमों की अवहेलना करता है, तो वह निश्चय ही मोक्ष के उच्च पद से नीचे गिरेगा।

यतो यतो निवर्तेत विमुच्येत ततस्ततः ।

एष धर्मो नृणां क्षेमः शोकमोहभयापहः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

यतः यतः—जिस जिस से; निवर्तेत—दूर रहता है; विमुच्येत—छूट जाता है; ततः ततः—उस उस से; एषः—यह; धर्मः—धर्म-प्रणाली; नृणाम्—मनुष्यों का; क्षेमः—कल्याण का मार्ग; शोक—दुख; मोह—मोह; भय—तथा भय; अपहः—मिटा देता है।

किसी पापपूर्ण या भौतिकतावादी कर्म से अपने को दूर रख कर, मनुष्य उसके बन्धन से मुक्त हो जाता है। ऐसा त्याग मनुष्यों के धार्मिक तथा कल्याणप्रद जीवन की आधारभूमि है और

यह सारे शोक, मोह तथा भय को भगा देता है।

तात्पर्य : चैतन्य-चरितामृत (अन्त्य-लीला ६.२२०) में कहा गया है—

महाप्रभुर भक्तगणेर वैराग्य प्रधान।

याहा देखिऽप्रीत हन गौर-भगवान् ॥

“त्याग ही श्री चैतन्य महाप्रभु के भक्तों का जीवनाधार है। इस त्याग को देख कर श्री चैतन्य महाप्रभु अत्यन्त तुष्ट होते हैं।”

मनुष्य मिथ्या अहंकारवश अपने को ही अपने कर्मों का स्वामी और भोक्ता मानता है। वस्तुतः भगवान् कृष्ण ही हमारे कर्मों के स्वामी तथा भोक्ता हैं। कृष्णभावनामृत में इस तथ्य की अनुभूति होने से असली वैराग्य प्राप्त होता है। हर व्यक्ति को अपना कर्म भगवान् की भेंट के रूप में करना चाहिए। तब भौतिक बन्धन की सम्भावना नहीं रहेगी। भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण ने स्पष्ट बतलाया है कि जब विहित कर्मों को भगवान् की भेंट मान कर किया जाता है, तो भव-बन्धन से छुटकारा मिलता है। पापकर्म भगवान् को अर्पित नहीं किये जा सकते, इसलिए इनका सर्वथा परित्याग करना चाहिए। वास्तव में, पाप तथा पुण्य में अन्तर इसीलिए किया जाता है कि जीव पुण्यात्मा बनें और भगवान् की शरण में जाने के पात्र बन सकें। भगवद्गीता (७.२८) में कहा गया है—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजते मां दृढ-व्रताः ॥

“जिन मनुष्यों ने पूर्वजन्मों में तथा इस जन्म में पुण्यकर्म किये हैं और जिनके पापकर्मों का पूर्णतया उच्छेदन हो चुका होता है और जो मोह के द्वन्द्वों से मुक्त हो जाते हैं, वे संकल्पपूर्वक मेरी सेवा में तत्पर होते हैं।”

पुण्यकर्म के द्वारा मनुष्य का जीवन कल्याणप्रद तथा शोक, मोह एवं भय से मुक्त हो जाता है और तब वह कृष्णभावनामृत के पथ को ग्रहण कर सकता है।

विषयेषु गुणाध्यासात्पुंसः सङ्गस्ततो भवेत् ।

सङ्गात्तत्र भवेत्कामः कामादेव कलिर्नृणाम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

विषयेषु—इन्द्रियतृप्ति की वस्तुओं में; गुण-अध्यासात्—उन्हें अच्छा मानने के कारण; पुंसः—मनुष्य की; सङ्गः—आसक्ति; ततः—इस कल्पना से; भवेत्—हो जाता है; सङ्गात्—भौतिक संगति से; तत्र—इस प्रकार; भवेत्—उत्पन्न होता है; कामः—काम; कामात्—काम से; एव—भी; कलिः—कलह; नृणाम्—मनुष्यों में।

जो व्यक्ति भौतिक इन्द्रिय-विषयों को अभीष्ट मान लेता है, वह निश्चित रूप से उनमें आसक्त हो जाता है। ऐसी आसक्ति से काम उत्पन्न होता है और यही काम लोगों में कलह उत्पन्न कराता है।

तात्पर्य : मनुष्य जीवन का असली लक्ष्य भौतिक इन्द्रियतृप्ति नहीं होना चाहिए क्योंकि मानव समाज में कलह का आधार यही है। यद्यपि वैदिक वाङ्मय कभी कभी इन्द्रियतृप्ति की अनुमति देता है, किन्तु वेदों का चरम उद्देश्य वैराग्य है क्योंकि वैदिक संस्कृति ऐसी किसी वस्तु की संस्तुति नहीं कर सकती जिससे मानव-जीवन में बाधा उत्पन्न हो। कामी पुरुष सहज ही क्रुद्ध हो उठता है और जो भी उसकी कामेच्छाओं में बाधा उत्पन्न करता है, उसका वह शत्रु बन जाता है। चूँकि उसकी यौन-इच्छा कभी तुष्ट नहीं की जा सकती, इसलिए कामी पुरुष अपनी ही संगिनी से असंतुष्ट रहने लगता है और इस तरह 'प्रेम-घृणा' का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। कामी पुरुष अपने को ईश्वर की सृष्टि का भोक्ता मानता है, इसीलिए वह गर्व एवं मिथ्या प्रतिष्ठा से युक्त रहता है। ऐसा कामी गर्वीला व्यक्ति कभी भी प्रामाणिक गुरु के चरणों में आत्म-निवेदन करने की ओर आकृष्ट नहीं होता। फलतः अवैध यौन के प्रति आकर्षण कृष्णभावनामृत का जो भगवान् के प्रतिनिधि के समक्ष विनीत आत्मसमर्पण पर आधारित है, प्रत्यक्ष शत्रु है। भगवान् कृष्ण ने भी *भगवद्गीता* में कहा है कि अवैध यौन इस दुनिया का सर्वभक्षी पापी शत्रु है।

चूँकि आधुनिक समाज में पुरुषों तथा स्त्रियों को परस्पर मिलने-जुलने की छूट दी हुई है, इसलिए नागरिकों को संभवतः शान्ति नहीं मिल पा रही प्रत्युत सामाजिक जीवन के लिए संघर्ष मानो नियम बन चुका है। यह उस अज्ञानग्रस्त समाज का लक्षण है, जो भौतिक शरीर को परम कल्याण मानता है जैसाकि *विषयेषु गुणा ध्यासात्* शब्दों द्वारा वर्णन हुआ है। जिसे अपना शरीर प्रिय है, वह निश्चित रूप से विषय-वासना से ग्रस्त रहेगा।

कलेर्दुर्विषहः क्रोधस्तमस्तमनुवर्तते ।

तमसा ग्रस्यते पुंसश्चेतना व्यापिनी द्रुतम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

कलहः—कलह से; दुर्विषहः—असह्य; क्रोधः—क्रोध; तमः—अज्ञान; तम्—उस क्रोध को; अनुवर्तते—पीछा करता है; तमसा—अज्ञान से; ग्रस्यते—पकड़ा जाता है; पुंसः—मनुष्य की; चेतना—चेतना; व्यापिनी—विस्तृत; द्रुतम्—तेजी से।

कलह से असह्य क्रोध उत्पन्न होता है और उससे अज्ञान का अंधकार उत्पन्न होता है। यह अज्ञान तुरन्त ही मनुष्य की विस्तृत चेतना पर हावी हो जाता है।

तात्पर्य : मनुष्य में भौतिक संग की इच्छा इसलिए जागृत होती है क्योंकि वह इस बात से इनकार करना चाहता है कि हर वस्तु ईश्वर की शक्ति है। वह इन्द्रिय-विषयों को झूठे ही भगवान् से पृथक् मान कर, उनका उपभोग करना चाहता है। ऐसी इच्छा से मानव-समाज में संघर्ष तथा कलह उत्पन्न होता है। इस संघर्ष से महान् क्रोध उत्पन्न होता है, जो मनुष्यों को मूर्ख तथा ध्वंसात्मक बना देता है। इस तरह वह मानव-जीवन का लक्ष्य भूल जाता है।

तया विरहितः साधो जन्तुः शून्याय कल्पते ।

ततोऽस्य स्वार्थविभ्रंशो मूर्च्छितस्य मृतस्य च ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तया—उस बुद्धि से; विरहितः—रहित, विहीन; साधो—हे साधु उद्भव; जन्तुः—प्राणी; शून्याय—शून्य; कल्पते—बन जाता है; ततः—फलस्वरूप; अस्य—उसका; स्व-अर्थ—जीवन-लक्ष्य से; विभ्रंशः—पतन; मूर्च्छितस्य—जड़वत् उस व्यक्ति का; मृतस्य—मृत; च—तथा।

हे साधु उद्भव, असली बुद्धि से विहीन व्यक्ति को हर वस्तु से रहित माना जाता है। वह जीवन के वास्तविक लक्ष्य से हट कर उसी तरह मन्द (जड़) पड़ जाता है, जिस तरह कि मृत मनुष्य।

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत इतना आवश्यक है कि जो व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार के इस प्रगतिशील मार्ग से विपथ हो जाता है, वह एक तरह से अचेतन या मृत मनुष्य जैसा माना जाता है। चूँकि हर जीव कृष्ण का भिन्नांश है अतएव जो अपनी पहचान बाह्य शरीर से करता है, वह वास्तव में अपनी स्थिति के प्रति अचेत रहता है। इसीलिए कहा गया है शून्याय कल्पते—जिसका कोई अस्तित्व नहीं है उसका पीछा करने से वह जीवन के लाभ से अथवा किसी प्रगति से वंचित रहता है। जिसकी चेतना शून्य में लीन रहती हो वह एक तरह से शून्य बन जाता है। इस प्रकार नित्य जीव पतित होकर भवसागर में डूब जाता है और एकमात्र भगवद्भक्तों की विशेष कृपा से, उसका उद्धार हो सकता है। इसीलिए भगवद्भक्तिजन पतित लोगों को हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन करने का उपदेश देते हैं। इस विधि से

हमारी असली चेतना तथा जीवन तुरन्त ही पुनरुज्जीवित हो सकते हैं ।

विषयाभिनवेशेन नात्मानं वेद नापरम् ।

वृक्ष जीविकया जीवन्व्यर्थं भस्त्रेव यः श्वसन् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

विषय—इन्द्रियतृप्ति में; अभिनवेशेन—अति लिप्त होने से; न—नहीं; आत्मानम्—अपने को; वेद—जानता है; न—न तो; अपरम्—दूसरे को; वृक्ष—पेड़ की; जीविकया—जीवन-शैली द्वारा; जीवन्—जीते हुए; व्यर्थम्—व्यर्थ; भस्त्रा इव—धौंकनी के समान; यः—जो; श्वसन्—साँस लेता है ।

इन्द्रियतृप्ति में लीन रहने के कारण मनुष्य अपने आपको या दूसरों को पहचान नहीं पाता ।

वह वृक्ष की भाँति अज्ञान में व्यर्थ ही जीवित रह कर, धौंकनी की तरह श्वास मात्र लेता रहता है ।

तात्पर्य : जिस तरह रक्षा का कोई साधन न होने से वृक्ष सदैव काटे जाते हैं, उसी तरह बद्धजीव प्रकृति के क्रूर नियमों द्वारा निरन्तर काटे जाते हैं जिससे असंख्य कष्ट मिलते हैं और अन्त में आकस्मिक मृत्यु हो जाती है । यद्यपि मूर्ख लोग सोचते हैं कि वे अपनी तथा अन्यो की सहायता कर रहे हैं, किन्तु वास्तव में वे न तो अपनी पहचान जानते हैं न तथाकथित अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों की । वे बाह्य शरीर की इन्द्रियों की तृप्ति में लगे रहते हैं और व्यर्थ ही किसी आध्यात्मिक लाभ के बिना जीवन बिता देते हैं । इस तरह की व्यर्थ जीवन-शैली को श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा संस्तुत भगवान् के नाम-कीर्तन की विधि से पूर्ण बनाया जा सकता है ।

फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयो रोचनं परम् ।

श्रेयोविवक्षया प्रोक्तं यथा भैषज्यरोचनम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

फल-श्रुति:—पुरस्कार का वचन देने वाले शास्त्र-कथन; इयम्—ये; नृणाम्—मनुष्यों के लिए; न—नहीं हैं; श्रेयः—सर्वोच्च कल्याण; रोचनम्—प्रलोभन; परम्—मात्र; श्रेयः—चरम कल्याण; विवक्षया—कहने के विचारसे; प्रोक्तम्—कहा हुआ; यथा—जिस तरह; भैषज्य—औषधि लेने के लिए; रोचनम्—प्रलोभन, फुसलावा ।

फल प्रदान करने का वादा करने वाले श्रुति के वचन मनुष्यों को परम कल्याण दिये जाने की संस्तुति नहीं करते अपितु वे लाभप्रद धार्मिक कर्म करने के लिए प्रलोभन मात्र हैं, जिस तरह कि बच्चे को लाभप्रद औषधि पीने के लिए फुसलाने हेतु मिश्री देने का वादा किया जाता है ।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में भगवान् कृष्ण ने कहा है कि इन्द्रियतृप्ति में लीन रहने वाले लोग मानव-जीवन के असली लक्ष्य से हट जाते हैं । किन्तु चूँकि वेद स्वयं ही यज्ञ तथा तपस्या के

फलस्वरूप स्वर्गिक इन्द्रियतृप्ति का वचन देते हैं, तो फिर स्वर्ग जाने को जीवन-लक्ष्य से हटना कैसे कहा जा सकता है? यहाँ पर भगवान् बतलाते हैं कि शास्त्रों द्वारा प्रदत्त कर्मफल कोरे प्रलोभन होते हैं जिस तरह बच्चे को दवा पिलाने के लिए मिश्री का प्रलोभन दिया जाता है। उपयोगी तो औषधि है न कि मिश्री। उसी तरह सकाम यज्ञों में विष्णु-पूजा ही लाभप्रद है, उसका फल नहीं। *भगवद्गीता* के अनुसार जो लोग शास्त्रों के चरम लक्ष्य को सकाम फल बतलाते हैं, वे लोग भगवान् की इच्छा के विरोधी और मूर्ख हैं। भगवान् चाहते हैं कि सारे बद्धजीव शुद्ध बनें और भगवद्धाम आयेँ जिससे उन्हें आनन्द तथा ज्ञान का नित्य जीवन-लाभ हो सके। जो व्यक्ति धर्म के नाम पर भगवान् की इच्छा का विरोध करता है, वह जीवन-लक्ष्य के विषय में निश्चित रूप से मोहग्रस्त है।

उत्पत्यैव हि कामेषु प्राणेषु स्वजनेषु च ।
आसक्तमनसो मर्त्या आत्मनोऽनर्थहेतुषु ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

उत्पत्या एव—मात्र जन्म से; हि—निस्सन्देह; कामेषु—स्वार्थपूर्ण इच्छाओं की वस्तुओं में; प्राणेषु—(आयु, इन्द्रिय-कर्म, शक्ति तथा संभोग-शक्ति) जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यों में; स्व-जनेषु—अपने परिवार के सदस्यों में; च—तथा; आसक्त-मनसः—मन के भीतर आसक्त होकर; मर्त्याः—मर्त्य मनुष्य लोग; आत्मनः—अपनी ही आत्मा के; अनर्थ—उद्देश्य को नष्ट करने वाले; हेतुषु—कारणों में।

संसार में जन्म लेने से ही सारे मनुष्य अपने मन में इन्द्रियतृप्ति, दीर्घायु, इन्द्रिय-कर्म, बल, संभोग-शक्ति तथा मित्रों एवं परिवार के प्रति आसक्त हो जाते हैं। इस तरह उनके मन ऐसी बात में लीन रहते हैं जिनसे उनके वास्तविक स्वार्थ को धक्का लगता है।

तात्पर्य : अपने भौतिक शरीर तथा परिवार एवं मित्रों के शरीरों के प्रति हमारी आसक्ति से असह्य कष्ट होता है तथा चिन्ता उत्पन्न होती है। देहात्म बुद्धि में लीन मन आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त नहीं कर पाता, फलतः आनन्द तथा ज्ञान से युक्त नित्य जीवन की आशा उसके तथाकथित स्नेह की वस्तुओं के कारण नष्ट हो जाती है। अज्ञान में किये गये कर्म न तो अपने लिए न ही अन्यो के लिए लाभदायक होते हैं जिस तरह स्वप्न में दिये गये दान से किसी को वास्तविक लाभ नहीं पहुँचता। बद्धजीव ईश्वर से पृथक् संसार का स्वप्न देखता रहता है किन्तु इस स्वप्न में अनुभव की गई कोई भी प्रगति मात्र छलावा होगी। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं—*सर्वलोक महेश्वरम्*। वे ही परम भोक्ता तथा सम्पूर्ण लोकों के स्वामी हैं। एकमात्र कृष्णभावनामृत द्वारा अर्थात् ईश्वर की सर्वोच्चता स्वीकार करके ही, जीवन में

असली उन्नति की जा सकती है।

नतानविदुषः स्वार्थं भ्राम्यतो वृजिनाध्वनि ।

कथं युञ्ज्यात्पुनस्तेषु तांस्तमो विशतो बुधः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

नतान्—विनीत; अविदुषः—अज्ञानी; स्व-अर्थम्—अपने हित के; भ्राम्यतः—घूमते हुए; वृजिन—संकट के; अध्वनि—मार्ग पर; कथम्—किस कार्य के लिए; युञ्ज्यात्—लगा सकेंगे; पुनः—आगे भी; तेषु—उनमें (इन्द्रियतृप्ति के गुण में); तान्—उनको; तमः—अंधकार; विशतः—घुसते हुए; बुधः—बुद्धिमान (बौद्धिक सत्ता)।

अपने स्वार्थ से अनजान लोग भौतिक संसार के मार्ग में विचरण कर रहे हैं और धीरे धीरे अंधकार की ओर अग्रसर हो रहे हैं। भला वेद उन्हें और अधिक इन्द्रियतृप्ति के प्रति क्यों प्रोत्साहित करने लगे यदि वे मूर्खजन विनीत भाव से वैदिक आदेशों पर ध्यान दें।

तात्पर्य : भौतिकतावादी लोग समाज, मैत्री तथा प्रेम को, जो कि यौन-लिप्तता पर आधारित हैं, त्याग कर वैराग्य तथा आत्म-साक्षात्कार का जीवन बिताने को तैयार नहीं हैं। ऐसे मूर्ख लोगों को वैदिक आदेशों की छत्रछाया में लाने के लिए ही वेद उन लोगों को जो वैदिक आदेशों का निष्ठापूर्वक पालन करते हैं असंख्य फलों का वादा करते हैं, जिनमें स्वर्ग-प्राप्ति तक सम्मिलित हैं। किन्तु जैसाकि भगवान् बतला चुके हैं ऐसे फल उस बालक को मिश्री देने के तुल्य हैं, जो बाद में श्रद्धापूर्वक दवा पी लेता है। निस्सन्देह भौतिक भोग ही दुख की जड़ है क्योंकि भोग्य वस्तुएँ तथाकथित भोक्ता के साथ साथ विनष्ट होने वाली हैं। भौतिक जीवन नितान्त वेदनापूर्ण तथा चिन्ता, हताशा एवं शोक से व्याप्त है। हम स्त्री का नग्न शरीर, सुन्दर आवास, अच्छा स्वादिष्ट भोजन या अपनी प्रतिष्ठा का विस्तार जैसी तथाकथित भोग्य वस्तुओं को देख कर, चलायमान हो उठते हैं, किन्तु ऐसा कल्पित सुख मात्र तुष्टि की प्रबल आशा है, जो कभी प्राप्त नहीं होती। मनुष्य निरन्तर इस संसार में उद्विग्न रहता है और वह जितना ही भोग करने का प्रयास करता है उतना ही हताश होता जाता है। इसलिए वैदिक ज्ञान, जो कि आध्यात्मिक स्तर पर परम शान्ति तथा सुख को अपना लक्ष्य बनाता है, भौतिकतावादी जीवन-शैली की अनुमति नहीं दे सकता। भौतिक फल तो बद्धजीवों को भगवान् विष्णु में समर्पण रूपी ओषधि प्रदान करने के लिए विविध यज्ञों के माध्यम से प्रलोभन के रूप में दिये जाते हैं। जो वेदवादरत हैं उनका कहना है कि शास्त्र बद्धजीवों के अज्ञान में इन्द्रियतृप्ति सुलभ बनाने के निमित्त हैं। किन्तु धर्म का असली लक्ष्य आध्यात्मिक मोक्ष है, जिसमें इन्द्रियतृप्ति समाप्त हो जाती है। आध्यात्मिक ज्ञान के तेज

के समक्ष शारीरिक आसक्ति का अंधकार टिक नहीं पाता। आध्यात्मिक आनन्द के सागर में इस जगत का चिन्तापूर्ण बाह्य आनन्द लुप्त हो जाता है। वेद का सही अर्थ है भगवान् के आज्ञाकारी दास के रूप में आनन्द तथा ज्ञानमय शाश्वत जीवन के लिए भगवान् की शरण में जाना।

एवं व्यवसितं केचिदविज्ञाय कुबुद्धयः ।
फलश्रुतिं कुसुमितां न वेदज्ञा वदन्ति हि ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह से; व्यवसितम्—वास्तविक निष्कर्ष; केचित्—कुछ लोग; अविज्ञाय—न जानते हुए; कु-बुद्धयः—विकृत बुद्धि वाले; फल-श्रुतिम्—भौतिक फल का वादा करने वाले शास्त्रों के कथन; कुसुमिताम्—फूलों जैसे, अलंकारिक; न—नहीं; वेद-ज्ञाः—वेदों के ज्ञाता; वदन्ति—कहते हैं; हि—निस्सन्देह।

विकृत बुद्धि वाले लोग वैदिक ज्ञान के इस वास्तविक उद्देश्य को नहीं समझ पाते, प्रत्युत वे फलों का वादा करने वाले वेदों के अलंकारमय कथनों को परम वैदिक सत्य कह कर प्रचार करते हैं। किन्तु जो वेदों के वास्तविक ज्ञाता हैं, वे कभी भी इस तरह नहीं बोलते।

तात्पर्य : कर्ममीमांसा दर्शन मानने वाले यह घोषित करते हैं कि इस ब्रह्माण्ड के परे कोई भगवद्धाम नहीं है; अतः मनुष्य को चाहिए कि वह भौतिक स्वर्ग में बने रहने के लिए वैदिक अनुष्ठानों को नियमित रूप से सम्पन्न करे। जैसाकि पिछले अध्याय में भगवान् श्री उद्धव से बतला चुके हैं, भौतिक जगत में मनुष्य को वास्तविक सुख नहीं है क्योंकि वह निरन्तर स्वर्ग तथा नरक के बीच चक्कर लगाता रहेगा और इस तरह सदैव भौतिक वातावरण में उद्विग्न रहेगा। भले ही वैद्य बच्चे को मिश्री लेपित दवा दे, किन्तु जो व्यक्ति बालक को मिश्री खाने परन्तु दवा फेंकने के लिए प्रेरित करता है, वह बहुत बड़ा मूर्ख है। इसी तरह वेदों के वे अलंकारिक वचन जिनमें स्वर्गिक सुख का वर्णन मिलता है वैदिक ज्ञान के असली फल को देने वाले नहीं होते, अपितु इन्द्रियतृप्ति के सजावटी फूल ही देते हैं। वेदों में (ऋग्वेद १.२२.२०) कहा गया है *तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः*। स्वर्ग में निरन्तर वास करने वाले देवता तक भगवद्धाम के लिए लालायित रहते हैं। जो मूर्खजन स्वर्ग में रहने के स्तर की प्रशंसा करते हैं, उन्हें ध्यान देना चाहिए कि देवता स्वयं भी भगवान् के भक्त हैं। मनुष्य को तथाकथित वैदिक ज्ञान का थोथा प्रचारक न बन कर कृष्णभावनामृत स्वीकार करके जीवन-प्रगति की समस्या का वास्तविक हल ढूँढना चाहिए।

कामिनः कृपणा लुब्धाः पुष्पेषु फलबुद्धयः ।
अग्निमुग्धा धूमतान्ताः स्वं लोकं न विदन्ति ते ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

कामिनः—कामी पुरुष; कृपणाः—कजूस; लुब्धाः—लालची; पुष्पेषु—फूल; फल-बुद्धयः—परम फल सोच कर; अग्नि—आग; मुग्धाः—मोहित; धूम-तान्ताः—धुएँ से दम घुटना; स्वम्—अपनी; लोकम्—पहचान; न विदन्ति—पहचानते हैं; ते—वे।

काम, क्रोध तथा लोभ से पूरित मनुष्यगण मात्र फूलों को ही जीवन का वास्तविक फल मान बैठते हैं। अग्नि की चमक से मोहग्रस्त होकर तथा इसके धुएँ से घुट कर, वे अपनी असली पहचान नहीं जान पाते।

तात्पर्य : जो लोग स्त्री-संगति में आसक्त रहते हैं, वे अपने तथा अपनी प्रिया की इन्द्रियतृप्ति के लिए हर वस्तु की कामना करते हैं और इस तरह वे चिन्ता तथा ईर्ष्या से पूर्ण लोभी पृथक्तावादी बन जाते हैं। ऐसे अभागे लोग वेदों के पुष्पित कथनों को जीवन की सर्वोच्च सिद्धि मानते हैं। अग्नि-मुग्धाः शब्द सूचित करता है कि ऐसे लोग भौतिक लाभ प्रदान करने वाले अग्नि यज्ञों को सर्वोच्च धार्मिक सत्य मानते हैं और इस तरह अज्ञान में लिप्त होते हैं। अग्नि से धुआँ उत्पन्न होता है, जिससे दृष्टि धूमिल होती है। इसी तरह सकाम यज्ञों का मार्ग धुंधला तथा अस्पष्ट है। उन्हें आत्मा की स्पष्ट जानकारी नहीं होती। यहाँ पर भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि सकाम धर्मज्ञ न तो अपनी असली आध्यात्मिक पहचान को जान पाते हैं, न ही भगवद्धाम में आत्मा की असली शरण का अनुभव करते हैं।

भगवद्गीता (१५.१५) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः—सारा वैदिक ज्ञान मनुष्य को शुद्ध भगवत्प्रेम तक ले जाने के निमित्त है। भगवान् कृष्ण निश्चित रूप से परब्रह्म हैं और उनसे प्रेम करना ही हमारे जीवन का परम लक्ष्य है। वैदिक ज्ञान बद्धजीव को शुद्ध कृष्णभावनामृत की इस सिद्धि तक ले जाने का धैर्यपूर्ण प्रयास करता है।

न ते मामङ्ग जानन्ति हृदिस्थं य इदं यतः ।
उक्थशस्त्रा ह्यसुतृपो यथा नीहारचक्षुषः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ते—वे; माम्—मुझको; अङ्ग—हे उद्धव; जानन्ति—जानते हैं; हृदि-स्थम्—हृदय के भीतर स्थित; यः—जो; इदम्—यह ब्रह्माण्ड; यतः—जहाँ से आता है; उक्थ-शस्त्राः—जो वैदिक अनुष्ठानों को प्रशंसनीय मानते हैं, या जिनके लिए उनके अनुष्ठान कृत्य उन हथियारों के तुल्य हैं, जो यज्ञ-पशुओं को मारता है; हि—निस्सन्देह; असु-तृपः—मात्र इन्द्रियतृप्ति में रुचि रखने वाले; यथा—जिस तरह; नीहार—कुहरा में; चक्षुषः—आँखों वाले।

हे उद्धव, वैदिक अनुष्ठानों का आदर करने से प्राप्त इन्द्रियतृप्ति के प्रति समर्पित लोग, यह

नहीं समझ सकते कि मैं हर एक के हृदय में स्थित हूँ और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मुझसे अभिन्न नहीं है और मुझी से उद्भूत है। निस्सन्देह, वे उन व्यक्तियों के समान हैं जिनकी आँखें कुहरे से ढकी रहती हैं।

तात्पर्य : *उक्थ-शस्त्रा:* शब्द कतिपय वैदिक स्तुतियों के उच्चारण का द्योतक है जिनसे इस जगत में तथा अगले लोक में सकाम फल प्राप्त किये जाते हैं। *शस्त्र* शब्द हथियार का सूचक है। इस तरह उक्थ-शस्त्र का अर्थ वह हथियार है, जो यज्ञ में यज्ञ-पशु को मारने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। शारीरिक तृप्ति के लिए वैदिक ज्ञान का दुरुपयोग करने वाले व्यक्ति भौतिकतावादी धार्मिक नियमों के हथियार से अपनी हत्या कर रहे हैं। उनकी उपमा घने कुहरे के भीतर देखने का प्रयास करने वाले मनुष्यों से दी जाती है। मिथ्या देहात्म बुद्धि, जो मनुष्य-शरीर के भीतर की आत्मा की उपेक्षा कराती है, अज्ञान के गहन कुहरे की भाँति है, जो हमारी ईश-दृष्टि को रोकती है। इसलिए भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* में अपना उपदेश देहात्म बुद्धि के गहन अंधकार को दूर करने से शुरू करते हैं। धर्म का अर्थ है ईश्वर का नियम। ईश्वर का अन्तिम आदेश या नियम यह है कि हर बद्धजीव उनकी शरण में आये, उनकी सेवा करना और प्रेम करना सीखे और इस तरह भगवद्धाम वापस जाये। कृष्णभावनामृत की विधि यही है।

ते मे मतमविज्ञाय परोक्षं विषयात्मकाः ।

हिंसायां यदि रागः स्याद्यज्ञ एव न चोदना ॥ २९ ॥

हिंसाविहारा ह्यालब्धैः पशुभिः स्वसुखेच्छया ।

यजन्ते देवता यज्ञैः पितृभूतपतीन्खलाः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

ते—वे; मे—मेरा; मतम्—निष्कर्ष, निर्णय; अविज्ञाय—बिना समझे; परोक्षम्—गुह्य; विषय-आत्मकाः—इन्द्रियतृप्ति में लीन; हिंसायाम्—हिंसा के प्रति; यदि—यदि; रागः—अनुरक्ति; स्यात्—हो; यज्ञे—यज्ञ विषयक संस्तुतियों में; एव—निश्चय ही; न—नहीं; चोदना—प्रोत्साहन; हिंसा-विहाराः—हिंसा में रुचि लेने वाले; हि—निस्सन्देह; आलब्धैः—वध किये गये; पशुभिः—पशुओं के द्वारा; स्व-सुख—अपने सुख के लिए; इच्छया—इच्छा से; यजन्ते—पूजा करते हैं; देवताः—देवतागण; यज्ञैः—याज्ञिक अनुष्ठानों से; पितृ—पितर, पूर्वज; भूत-पतीन्—तथा भूत-प्रेतों के प्रधान; खलाः—कूर पुरुष।

जो लोग इन्द्रियतृप्ति के वशीभूत हैं, वे मेरे द्वारा बतलाये गये वैदिक ज्ञान के गुह्य मत को नहीं समझ सकते। वे हिंसा में आनन्द का अनुभव करते हुए अपनी ही इन्द्रियतृप्ति के लिए यज्ञ में निरपराध पशुओं का निष्ठुरता से वध करते हैं और इस तरह वे देवताओं, पितरों तथा भूत-प्रेतों

के नायकों की पूजा करते हैं। किन्तु वैदिक यज्ञ-विधि में हिंसा की ऐसी उत्कट इच्छा को कभी प्रोत्साहन नहीं दिया जाता।

तात्पर्य : वैदिक शास्त्र उन क्रूर, निम्न श्रेणी के व्यक्तियों की तुष्टि के लिए जो मांस तथा रक्त का स्वाद लिए बिना नहीं रह सकते, यदा-कदा पशु-यज्ञ की संस्तुति करते हैं। किन्तु ऐसी छूटों पर कठोर अनुष्ठानों द्वारा अंकुश लगा हुआ है, जिससे धीरे धीरे पशु-वध को कम किया जा सके, वैसे ही जिस तरह शराब लाइसेंस का अत्यधिक शुल्क फुटकर शराब बेचने वालों की संख्या को नियंत्रित करता है। किन्तु अविवेकी लोग ऐसी प्रतिबन्धित छूटों का दूसरा अर्थ लगाकर घोषित करते रहते हैं कि वैदिक यज्ञ इन्द्रियतृप्ति हेतु पशु-वध करने के निमित्त हैं। भौतिकतावादी होने के कारण, वे पितृ-लोक या देव-लोक जाने के इच्छुक रहते हैं, अतएव ऐसे प्राणियों को पूजते हैं। कभी कभी वे भूत-प्रेतों की सूक्ष्म जीवन-शैली से आकृष्ट होकर उनकी पूजा करते हैं। ये विधियाँ भगवान् के प्रति उनकी निपट अज्ञानता की सूचक हैं क्योंकि भगवान् ही समस्त यज्ञों तथा तपों के वास्तविक भोक्ता हैं। असुरगण वैदिक यज्ञ तो करते हैं किन्तु वे नारायण से द्वेष रखते हैं क्योंकि वे देवताओं, पितरों या शिवजी को ईश्वर के तुल्य मानते हैं। वे वैदिक अनुष्ठानों की प्रामाणिकता को जानते हुए भी, वैदिक मत को नहीं मानते, इसलिए वे ईश्वर की शरण कभी नहीं ग्रहण करते। इस तरह पशु-वधिकों के आसुरी समाज में मिथ्या धर्म पलता है। यद्यपि अमरीका जैसे देशों के लोग बाहर से एकमात्र ईश्वर को मानने का दावा करते हैं, किन्तु अनेक मनोरंजनकर्ताओं, राजनीतिज्ञों, खिलाड़ियों तथा ऐसे ही तुच्छ लोगों की, जो लोकप्रिय वीर हैं, पूजा की जाती है तथा यशोगान किया जाता है। निपट भौतिकतावादी होने के कारण पशु-वधिक भौतिक माया के असाधारण स्वरूप से आकृष्ट होते हैं। वे कृष्णभावनामृत के असली पद या आध्यात्मिक जीवन को नहीं समझ पाते।

स्वप्नोपमममुं लोकमसन्तं श्रवणप्रियम् ।

आशिषो हृदि सङ्कल्प्य त्यजन्त्यर्थान्यथा वणिक् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

स्वप्न—स्वप्न; उपमम्—समान; अमुम्—वह; लोकम्—(मृत्यु के पश्चात्) संसार; असन्तम्—असत्य; श्रवण-प्रियम्—सुनने में मोहक; आशिषः—जीवन में सांसारिक उपलब्धियाँ; हृदि—हृदय में; सङ्कल्प्य—कल्पना करके; त्यजन्ति—त्याग देते हैं; अर्थान्—उनकी सम्पत्ति; यथा—सदृश; वणिक्—व्यापारीजन।

जिस तरह कोई मूर्ख व्यापारी व्यर्थ की व्यापारिक कल्पना में अपनी असली सम्पत्ति गँवा

देता है, उसी तरह मूर्ख व्यक्ति जीवन की वास्तविक मूल्यवान वस्तुओं को त्याग कर स्वर्ग जाने के पीछे पड़े रहते हैं, जो सुनने में मोहक तो है किन्तु स्वप्न सदृश असत्य है। ऐसे मोहग्रस्त लोग अपने हृदयों में यह कल्पना करते हैं कि वे सारे भौतिक वर प्राप्त कर सकेंगे।

तात्पर्य : सारे संसार के लोग इसी जीवन में या अगले जीवन में पूर्ण इन्द्रियतृप्ति पाने के लिए भरसक कार्य करते हैं। नित्य जीव के रूप में हम कृष्ण के भिन्नांश हैं अतएव भगवान् के सान्निध्य में हम समस्त आनन्द तथा ज्ञान से सहज ही युक्त होते हैं। किन्तु हम आध्यात्मिक आनन्द तथा ज्ञान के इस उच्च पद को त्याग कर शारीरिक सुख रूपी मृगतृष्णा के पीछे दौने में अपना समय व्यर्थ गँवाते हैं जिस तरह मूर्ख व्यापारी काल्पनिक व्यापार में, जिससे कोई असली लाभ नहीं मिलता, अपनी असली पूँजी को गँवा देता है।

रजःसत्त्वतमोनिष्ठा रजःसत्त्वतमोजुषः ।

उपासत इन्द्रमुख्यान्देवादीन् यथैव माम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

रजः—रजोगुण; सत्त्व—सतोगुण; तमः—अथवा तमोगुण में; निष्ठाः—स्थित; रजः—रजोगुण; सत्त्व—सत्य; तमः—या अविद्या; जुषः—जो प्रकट करते हैं; उपासते—पूजा करते हैं; इन्द्र-मुख्यान्—इन्द्र इत्यादि; देव-आदीन्—देवताओं इत्यादि को; न—नहीं; यथा एव—सही ढंग से; माम्—मुझको।

रजो, सतो तथा तमोगुण में स्थित लोग इन्द्र इत्यादि विशेष देवताओं तथा अन्य अर्चाविग्रहों की पूजा करते हैं, जो उन्हीं रजो, सतो या तमोगुण को प्रकट करते हैं, किन्तु वे मेरी समुचित पूजा करने में असफल रहते हैं।

तात्पर्य : यद्यपि देवता भगवान् के भिन्नांश हैं, किन्तु देव-पूजा से यह झूठा विचार पलता है कि देवतागण भगवान् से पृथक् सत्ता रखते हैं। ऐसी पूजा *अविधि-पूर्वकम्* है—अर्थात् परब्रह्म तक पहुँचने का अनुचित साधन है। श्रील मध्वाचार्य ने *हरिवंश* से उद्धरण दिया है कि तमोगुणी लोगों में भी कभी कभी रजो तथा सतोगुण प्रकट होते हैं। सतोगुणी प्रवृत्ति रखने वाले अज्ञानी पुरुष नरक तो जा सकते हैं, किन्तु उन्हें स्वर्ग का भी थोड़ा सुख भोगने दिया जाता है। इस तरह यह देखा जाता है कि दयनीय आर्थिक या राजनीतिक दशा को भोगने वाला व्यक्ति अपनी नारकीय स्थिति के बावजूद, सुन्दर पत्नी की संगति प्राप्त करता है। रजोगुण से कुछ कुछ मिश्रित तमोगुणी व्यक्ति सीधे नरक जाते हैं और जो निपट तमोगुणी हैं, वे नरक के गहन अंधकार को प्राप्त करते हैं। जो लोग भगवद्भक्ति से वंचित रहते

हैं, वे इन श्रेणियों में से तमोगुण श्रेणी में आते हैं। कभी कभी सतोगुणी लोग भगवान् की सर्वश्रेष्ठता को स्वीकार तो करते हैं, किन्तु यह विश्वास करके कि वैदिक अनुष्ठानों के द्वारा वे देवताओं जैसा स्तर प्राप्त कर सकेंगे, देवताओं के प्रति अधिक आकृष्ट होते हैं। यह घमंडी मनोवृत्ति भगवान् की प्रेमाभक्ति में अवरोधक और अन्ततः पतन का कारण बनती है।

इष्टेह देवता यज्ञैर्गत्वा रंस्यामहे दिवि ।

तस्यान्त इह भूयास्म महाशाला महाकुलाः ॥ ३३ ॥

एवं पुष्पितया वाचा व्याक्षिप्तमनसां नृणाम् ।

मानिनां चातिलुब्धानां मद्द्वार्तापि न रोचते ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

इष्टा—यज्ञ करके; इह—इस जगत में; देवताः—देवतागण; यज्ञैः—हमारे यज्ञों से; गत्वा—जाकर; रंस्यामहे—हम भोग करेंगे; दिवि—स्वर्ग में; तस्य—उस भोग का; अन्ते—अन्त में; इह—इस पृथ्वी पर; भूयास्मः—हम हो जायेंगे; महा-शालाः—महान् गृहस्थ; महा-कुलाः—राजसी परिवार के लोग; एवम्—इस प्रकार; पुष्पितया—फूलों जैसे; वाचा—शब्दों से; व्याक्षिप्त-मनसाम्—मोहग्रस्त मनों वाले; नृणाम्—लोग; मानिनाम्—अत्यन्त घमंडी; च—तथा; अति-लुब्धानाम्—अत्यन्त लोभी; मद्-वार्ता—मुझसे सम्बन्धित कथाएँ; अपि—भी; न रोचते—आकर्षण नहीं होता।

देवताओं के उपासक सोचते हैं, “हम इस जीवन में देवताओं की पूजा करेंगे और अपने यज्ञों के बल पर हम स्वर्ग जाकर वहाँ भोग करेंगे। भोग समाप्त होने पर हम इस जगत में लौट आयेंगे और राज-परिवारों में वैभवशाली गृहस्थों के रूप में जन्म लेंगे।” ऐसे लोग अत्यधिक घमंडी तथा लालची होने से, वेदों के अलंकारयुक्त शब्दों से मोहित हो जाते हैं। वे मुझ भगवान् की कथाओं के प्रति आकृष्ट नहीं होते।

तात्पर्य : असली आनन्द तो भगवान् के दिव्य स्वरूप में पाया जाता है, जो कि साक्षात् कामदेव हैं और वैकुण्ठ में प्रेममयी लीलाओं में लगे रहते हैं। मूर्ख देवोपासक भगवान् की लीलाओं के दिव्य आनन्द की उपेक्षा करके ईश्वर जैसा बनने का स्वप्न देखते हैं, किन्तु उन्हें इसके ठीकविपरीत फल मिलता है। दूसरे शब्दों में, वे जन्म-मृत्यु के चक्र में निरन्तर घूमते रहते हैं।

वेदा ब्रह्मात्मविषयास्त्रिकाण्डविषया इमे ।

परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं मम च प्रियम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

वेदाः—वेद; ब्रह्म-आत्म—स्वयं को शुद्ध आत्मा समझते हुए; विषयाः—विषयों वाले; त्रि-काण्ड-विषयाः—तीन विभाग वाले (कर्म, देवपूजा तथा परब्रह्म का साक्षात्कार); इमे—ये; परोक्ष-वादाः—गोपनीय ढंग से बोलने वाले; ऋषयः—वैदिक विद्वान्; परोक्षम्—अप्रत्यक्ष विवेचना; मम—मेरा; च—भी; प्रियम्—प्रिय।

तीन काण्ड वाले वेद अंततः यह बतलाते हैं कि जीव ही शुद्ध आत्मा है। किन्तु वैदिक ऋषि-मुनि तथा मंत्र गुप्त रूप से बतलाते हैं और मैं भी ऐसे गुह्य वर्णनों से प्रसन्न होता हूँ।

तात्पर्य : पिछले श्लोकों में भगवान् कृष्ण ने इस विचार का स्पष्ट खण्डन किया है कि वैदिक ज्ञान भौतिक भोग के लिए है और अब वे वैदिक वाङ्मय के असली उद्देश्य—आत्म-साक्षात्कार—का सार प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि बद्धजीव भौतिक शक्ति के पाश में संघर्ष कर रहे हैं, किन्तु उनका वास्तविक पद भगवद्धाम में दिव्य स्वतंत्रता है। वेद बद्धजीव को मोह के अंधकार से क्रमशः ऊपर उठाकर भगवान् की प्रेमाभक्ति में स्थापित करते हैं। जैसाकि वेदान्त सूत्र (४.४.२३) में कहा गया है—*अनावृत्तिः शब्दात्*—वैदिक ज्ञान को सुनने वाले को जन्म-मृत्यु के चक्र में नहीं लौटना पड़ता।

कोई यह प्रश्न कर सकता है कि स्वयं भगवान्, उनके प्रतिनिधि, वैदिक द्रष्टा तथा मंत्र गोपनीय शब्दों में क्यों बोलते हैं? जैसाकि भगवान् *भगवद्गीता* में कहते हैं—*नाहं प्रकाशः सर्वस्य*—भगवान् अपने को रास्ते में लिए जाने की आज्ञा नहीं देते और इस तरह वे बनावटी या शत्रुतापूर्ण लोगों के लिए प्रकट नहीं होते। भौतिक वातावरण से दूषित लोगों को वैदिक अनुष्ठानों के द्वारा जो सकाम फल प्रदान करते हैं, शुद्ध करने की प्रेरणा दी जाती है, ठीक उसी प्रकार जैसे किसी बच्चे को मिश्री का लोभ देकर, औषधि लेने के लिए प्रेरणा दी जाती है। वैदिक वाङ्मय की गोपनीय स्थिति के कारण, मन्द बुद्धि वाले लोग वेदों के परम दिव्य उद्देश्य को नहीं समझ सकते, अतः परिणामस्वरूप वे इन्द्रियतृप्ति के स्तर पर गिर जाते हैं।

ब्रह्मात्म शब्द अन्ततः भगवान् का सूचक है जिन्होंने *भगवद्गीता* में कहा है कि मेरा ज्ञान *राजगुह्यम्* अर्थात् गुह्यों में परम गुह्य है। जो कोई भौतिक इन्द्रिय-अनुभूति पर आश्रित रहता है, वह परब्रह्म के विषय में निपट अविद्या में रहता है। जो व्यक्ति मानसिक तथा बौद्धिक चिन्तन पर आश्रित रहता है, उसे यह संकेत मिल सकता है कि आत्मा तथा परमात्मा दोनों ही भौतिक शरीर के भीतर स्थित रहते हैं। किन्तु जो भगवान् पर ही आश्रित रह कर *भगवद्गीता* में दिये गये उनके सन्देश को सुनता है, वह पूरी स्थिति को समझता है और वैदिक ज्ञान का वास्तविक उद्देश्य पूरा करके भगवद्धाम जाता है।

शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम् ।
अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

शब्द-ब्रह्म—वेदों की दिव्य ध्वनि; सु-दुर्बोधम्—समझ पाने में अत्यन्त कठिन; प्राण—प्राण-वायु; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; मनः—
तथा मन; मयम्—विभिन्न स्तरों पर प्राकट्य; अनन्त-पारम्—अन्तहीन; गम्भीरम्—गहरा; दुर्विगाह्यम्—थाह पाना कठिन,
अथाह; समुद्र-वत्—समुद्र के समान।

वेदों की दिव्य ध्वनि को समझ पाना अत्यन्त कठिन है और वह प्राण, इन्द्रियों तथा मन के भीतर विभिन्न स्तरों में प्रकट होती है। यह वैदिक ध्वनि समुद्र के समान असीम, अगाध तथा अथाह है।

तात्पर्य : वैदिक ज्ञान के अनुसार वैदिक ध्वनि चार अवस्थाओं में विभक्त है, जिसे सबसे बुद्धिमान ब्राह्मण ही समझ सकते हैं। इसका कारण यह है कि इसके तीन विभाग जीव के भीतर स्थित होते हैं, केवल चौथा विभाग ही वाणी के रूप में बाह्यतः प्रकट होता है। यहाँ तक कि वैदिक ध्वनि की यह चौथी अवस्था, जो कि वैरवरी कहलाती है, सामान्य मनुष्य की समझ में नहीं आती। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की व्याख्या है कि ये विभाग निम्नवत हैं। वैदिक ध्वनि की प्राण अवस्था परा कहलाती है और वह आधार चक्र में स्थित है; मानसिक अवस्था पश्यन्ती कहलाती है और नाभि-प्रदेश में मणिपूरक चक्र में स्थित है; बौद्धिक अवस्था, जो मध्यमा कहलाती है हृदय प्रदेश में अनाहत चक्र में स्थित है। अन्त में, वैदिक ध्वनि की व्यक्त ऐन्द्रिय अवस्था वैरवरी कहलाती है।

ऐसी वैदिक ध्वनि अनन्त-पार है क्योंकि यह ब्रह्माण्ड के भीतर तथा उसके परे की सारी प्राण-शक्तियों को जान लेती है और इस तरह देश या काल से विभाजित नहीं होती। वस्तुतः, वैदिक ध्वनि इतनी सूक्ष्म, अथाह तथा अगाध है कि स्वयं भगवान् तथा उनके शक्तिप्रदत्त अनुयायी यथा व्यास तथा नारद ही उसके वास्तविक स्वरूप तथा अर्थ को समझ सकते हैं। सामान्य जनों के वश की बात नहीं कि वे वैदिक ध्वनि की गूढ़ता तथा सूक्ष्मता को जान सकें, किन्तु यदि कोई व्यक्ति कृष्णभावनामृत को स्वीकार करता है, वह तुरन्त ही समस्त वैदिक ज्ञान के निष्कर्ष अर्थात् वैदिक ज्ञान के मूल स्रोत, भगवान् कृष्ण, को जान लेता है। मूर्खजन अपने प्राण, इन्द्रियाँ तथा मन को इन्द्रियतृप्ति में लगाते हैं; फलतः वे भगवन्नाम की महत्ता को नहीं समझ पाते। अन्ततोगत्वा वैदिक ध्वनि का सार भगवन्नाम ही है, जो स्वयं भगवान् से भिन्न नहीं है। चूँकि भगवान् असीम हैं, इसलिए उनका नाम भी समान रूप से

असीम है। भगवान् की प्रत्यक्ष कृपा के बिना भगवान् की दिव्य महिमा को कोई नहीं समझ सकता। निरपराध होकर, हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे का कीर्तन करने से मनुष्य वैदिक ध्वनि के रहस्यों तक प्रवेश पा जाता है। अन्यथा वेदों का ज्ञान *दुर्विगाह्यम्* अर्थात् अथाह बना रहेगा।

मयोपबृंहितं भूम्ना ब्रह्मणानन्तशक्तिना ।
भूतेषु घोषरूपेण बिसेषूर्णैव लक्ष्यते ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

मया—मेरे द्वारा; उपबृंहितम्—स्थापित; भूम्ना—असीम; ब्रह्मणा—परिवर्तनरहित ब्रह्म द्वारा; अनन्त-शक्तिना—अनन्त शक्ति वाले; भूतेषु—जीवों में; घोष-रूपेण—सूक्ष्म ध्वनि के रूप में, ऊंकार; बिसेषु—सूक्ष्म कमलनाल में; ऊर्णा—एक तन्तु; इव—सदृश; लक्ष्यते—प्रकट होता है।

मैं सारे जीवों के भीतर असीम, अपरिवर्तनीय तथा सर्वशक्तिमान भगवान् के रूप में निवास करते हुए, सारे जीवों के भीतर ऊंकार के रूप में वैदिक ध्वनि स्थापित करता हूँ। वह उसी तरह सूक्ष्म अनुभव की जाती है, जिस तरह कि कमलनाल का एक तन्तु।

तात्पर्य : भगवान् स्वयं प्रत्येक जीव के हृदय के भीतर निवास करते हैं और इस श्लोक से हम यह जान सकते हैं कि समस्त वैदिक ज्ञान का बीज भी सारे जीवों के भीतर स्थित है। इस तरह से वैदिक ज्ञान का उद्बोधन तथा उसे ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध का जागृत होना हर एक के लिए स्वाभाविक तथा आवश्यक भी है। सारी सिद्धि जीव के हृदय के भीतर पाई जाती है। जैसे ही भगवन्नाम का कीर्तन करने से हृदय शुद्ध हो जाता है वैसे ही सिद्धि अर्थात् कृष्णभावनामृत का तुरन्त उदय होता है।

यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णामुद्धमते मुखात् ।
आकाशाद्घोषवान्प्राणो मनसा स्पर्शरूपिणा ॥ ३८ ॥
छन्दोमयोऽमृतमयः सहस्रपदवीं प्रभुः ।
ओंकाराद्व्यञ्जितस्पर्शस्वरोष्मान्तस्थभूषिताम् ॥ ३९ ॥
विचित्रभाषाविततां छन्दोभिश्चतुरुत्तरैः ।
अनन्तपारां बृहतीं सृजत्याक्षिपते स्वयम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; ऊर्ण-नाभिः—मकड़ा; हृदयात्—अपने हृदय से; ऊर्णाम्—अपने जाले को; उद्धमते—निकालता है; मुखात्—अपने मुँह से होकर; आकाशात्—आकाश से; घोष-वान्—ध्वनि प्रकट करते हुए; प्राणः—मूल प्राण-वायु के रूप में

भगवान्; मनसा—मन के द्वारा; स्पर्श-रूपिणा—स्पर्श अक्षरों के रूप में प्रकट होने वाला; छन्दः-मयः—समस्त छन्दों से युक्त; अमृत-मयः—दिव्य आनन्द से पूरित; सहस्र-पदवीम्—हजारों दिशाओं में फूट कर निकलने वाला; प्रभुः—भगवान्; ओंकारात्—ॐकार सूक्ष्म ध्वनि से; व्यञ्जित—विस्तृत; स्पर्श—व्यंजन से; स्वर—स्वरों; उष्म—उष्म; अन्त-स्थ—तथा उपस्वर; भूषिताम्—अलंकृत; विचित्र—नाना प्रकार की; भाषा—मौखिक अभिव्यक्ति द्वारा; वितताम्—विस्तृत; छन्दोभिः—छन्दों से; चतुः-उत्तरैः—पिछले से चार वर्ण अधिक; अनन्त-पाराम्—अन्तहीन; बृहतीम्—वैदिक वाङ्मय का विस्तार; सृजति—उत्पन्न करता है; आक्षिपते—तथा समेट लेता है; स्वयम्—खुद, स्वयं।

जिस प्रकार मकड़ी अपने हृदय से अपना जाला निकाल कर मुख-मार्ग से बाहर उगलती है, उसी तरह भगवान् गूँजती हुई आदि प्राण-वायु के रूप में अपने को प्रकट करते हैं। इस प्राण-वायु में सारे पवित्र वैदिक छन्द तथा दिव्य आनन्द भरे रहते हैं। इस तरह प्रभु अपने हृदय के आकाश से अपने मन के द्वारा महान् तथा असीम वैदिक ध्वनि को उत्पन्न करते हैं, जो स्पर्श जैसी नाना प्रकार की ध्वनियों को जन्म देती है। यह वैदिक ध्वनि हजारों दिशाओं में फूटती है और ॐकार वर्ण से विस्तृत विभिन्न अक्षरों से अलंकृत होती है—यथा व्यंजन, स्वर, उष्म तथा अन्तस्थ। तत्पश्चात् अनेक मौखिक भेदों से वेद का विस्तार होता है और विभिन्न छन्दों में अभिव्यक्ति होती है जिनमें प्रत्येक छंद पिछले वाले से चार वर्ण अधिक होता है। अन्त में भगवान् वैदिक ध्वनि के अपने स्वरूप को अपने ही भीतर समेट लेते हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने इन तीन श्लोकों की विशद पारिभाषिक व्याख्या की है, जिसको समझने के लिए संस्कृत भाषा का विस्तृत ज्ञान अपेक्षित है। किन्तु मूल बात यह है कि दिव्य ज्ञान की अभिव्यक्ति वैदिक ध्वनि द्वारा होती है, जो स्वयं परब्रह्म परमेश्वर का स्वरूप है। वैदिक ध्वनि भगवान् से निकलती है और उनको समझने तथा उनका गुणानुवाद करने के लिए ही ध्वनित की जाती है। समस्त वैदिक ध्वनि का सार *भगवद्गीता* में निहित है, जिसमें भगवान् कहते हैं—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*—सारा वैदिक ज्ञान हमें यह शिक्षा देने निमित्त है कि हम ईश्वर को जानें और उन्हें प्रेम करें। जो व्यक्ति सदैव कृष्ण चिन्तन करता है, जो उनका भक्त बनता है और जो व्यक्ति श्रद्धा तथा भक्ति के साथ उनको नमस्कार करता है तथा उनके पवित्र नाम का कीर्तन करते हुए पूजता है, वह निश्चित रूप से उस सबकी पूरी जानकारी पा लेता है, जिसको वेद (ज्ञान) शब्द से इंगित किया गया है।

गायत्र्युष्णिगनुष्टुप्च बृहती पङ्क्तिरेव च ।

त्रिष्टुब्जगत्यतिच्छन्दो ह्यत्यष्ट्यतिजगद्विराट् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

गायत्री उष्णक् अनुष्टुप् च—गायत्री, उष्णक् तथा अनुष्टुप् नामक; बृहती पङ्क्तिः—बृहती तथा पङ्क्ति; एव च—भी; त्रिष्टुप् जगती अतिच्छन्दः—त्रिष्टुप्, जगती तथा अतिच्छन्द; हि—निस्सन्देह; अत्यष्टि-अतिजगत्-विराट्—अत्यष्टि, अतिजगती तथा अतिविराट् ।

वैदिक छन्द हैं—गायत्री, उष्णक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप्, जगती, अतिच्छन्द, अत्यष्टि, अतिजगती तथा अतिविराट् ।

तात्पर्य : गायत्री छन्द में २४ अक्षर होते हैं, उष्णक् में २८ तथा अनुष्टुप् में ३२ इत्यादि। इस तरह हर छन्द में पिछले की अपेक्षा चार अक्षर अधिक होते जाते हैं। वैदिक ध्वनि बृहती कहलाती है, अतएव सामान्य जीवों को इस विषय की सारी पारिभाषिक बातें समझ पाना सम्भव नहीं है।

किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत् ।

इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्देव कश्चन ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; विधत्ते—(कर्म-काण्ड में) आदेश है; किम्—क्या; आचष्टे—(देवता-काण्ड में) सूचित होता है; किम्—क्या; अनूद्य—विभिन्न प्रकार से वर्णन करके; विकल्पयेत्—विकल्प की संभावना बताता है (ज्ञान-काण्ड में); इति—इस प्रकार; अस्याः—वैदिक वाङ्मय का; हृदयम्—हृदय, अथवा गुप्त उद्देश्य; लोके—इस जगत में; न—नहीं; अन्यः—दूसरा; मत्—मेरी अपेक्षा; वेद—जानता है; कश्चन—कोई ।

सारे जगत में मेरे अतिरिक्त अन्य कोई वैदिक ज्ञान के गुह्य उद्देश्य को नहीं समझता। अतः लोग यह नहीं जानते कि कर्म-काण्ड के अनुष्ठानिक आदेशों में वेद किस बात की संस्तुति कर रहे हैं अथवा उपासना-काण्ड में प्राप्य पूजा के सूत्रों से कौन-सी वस्तु सूचित होती है अथवा वेदों के ज्ञान-काण्ड में विभिन्न संकल्पनाओं के माध्यम से किसकी विशद व्याख्या की गई है।

तात्पर्य : भगवान् परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण हैं। चूँकि भगवान् ही वैदिक ज्ञान के उद्गम, पालक तथा चरम लक्ष्य हैं, अतएव वे वेदवित् हैं। तथाकथित दार्शनिक, चाहे वे वैदिक पंडित हों या सामान्यजन, अपना अपना सांप्रदायिक मत दे सकते हैं किन्तु वेदों के गुप्त उद्देश्य को स्वयं भगवान् ही जानते हैं। वे ही सारे जीवों के एकमात्र आश्रय तथा प्रेय हैं। उन्होंने भगवद्गीता के दसवें अध्याय (१०.४१) में कहा है—

यद्यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।

तद्दत्तद् एवावगच्छ त्वं मम तेजोऽश सम्भवम् ॥

“तुम जान लो कि सारी सुन्दर, भव्य तथा तेजस्वी सृष्टियाँ मेरे तेज के एक स्फुलिंग मात्र से उद्भूत हैं।” सारी सुन्दर अद्वितीय तथा शक्तिशाली अभिव्यक्तियाँ भगवान् के निजी ऐश्वर्य के तुच्छ

प्रदर्शन हैं। भले ही सामान्यजन धर्म को लेकर परस्पर लड़ें-झगड़ें, किन्तु वास्तविक उद्देश्य तो एक है—कृष्णभावनामृत या भगवत्प्रेम। सारे वैदिक सूत्र कृष्णभावनामृत की पूर्ण अवस्था तक ले जाने वाली प्रारम्भिक अवस्थाएँ हैं जिनमें मनुष्य भगवद्भक्ति को आत्मसमर्पण करता है। इस जगत में भगवद्भक्त उनका प्रतिनिधित्व करते हैं और वे कभी ऐसी बात नहीं कहते जिसका अधिकार उन्हें भगवान् से प्राप्त न हो। चूँकि वे भगवान् के ही शब्दों को दुहराते हैं, इसलिए उन्हें भी वेदवित् माना जाता है।

मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम् ।
 एतावान्सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम् ।
 मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

माम्—मुझको; विधत्ते—यज्ञ में आदेश देता है; अभिधत्ते—पूजा की वस्तु के रूप में नामकरण करता है; माम्—मुझको; विकल्प्य—विकल्प के रूप में प्रस्तुत करके; अपोह्यते—खंडन किया जाता हूँ; तु—भी; अहम्—मैं; एतावान्—इस तरह; सर्व-वेद—सारे वेदों का; अर्थः—अर्थ; शब्दः—ध्वनि; आस्थाय—स्थापित करके; माम्—मुझको; भिदाम्—भौतिक द्वैत; माया-मात्रम्—मात्र माया के रूप में; अनूद्य—विस्तार से वर्णन करके; अन्ते—अन्त में; प्रतिषिध्य—निषेध करके; प्रसीदति—तुष्ट हो जाता है।

मैं वेदों द्वारा आदिष्ट अनुष्ठानिक यज्ञ हूँ और मैं ही उपास्य देव हूँ। मैं ही विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों द्वारा प्रस्तुत किया जाता हूँ और दार्शनिक विश्लेषण द्वारा निषेध किया जाने वाला भी मैं ही हूँ। इस तरह दिव्य ध्वनि मुझे समस्त वैदिक ज्ञान के अनिवार्य अर्थ के रूप में स्थापित करती है। सारे वेद समस्त भौतिक द्वैत का विस्तारपूर्वक विश्लेषण करते हुए उसे मेरी ही मोहक शक्ति मान कर, अन्त में इस द्वैत का पूर्णतया निषेध करते हैं और अपने आप को तुष्ट करते हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में भगवान् यह घोषित कर चुके हैं कि एकमात्र वे ही वेदों के परम आशय को जानते हैं और अब वे यह प्रकट करते हैं कि वे ही समस्त वैदिक ज्ञान के परम आधार तथा आशय हैं। वेदों के कर्मकाण्ड अनुभाग में स्वर्ग जाने के लिए अनुष्ठानिक यज्ञों की संस्तुति हुई है। ऐसे यज्ञ साक्षात् भगवान् ही हैं। इसी तरह वेदों के उपासना-काण्ड में विभिन्न देवताओं को पूजा का विषय बतलाया गया है और ये देव भगवान् के अंश होने के कारण उनसे भिन्न नहीं हैं। वेदों के ज्ञान-काण्ड में विश्लेषण की विविध दार्शनिक विधियों का मंडन तथा खण्डन मिलता है। ऐसा ज्ञान जो भगवान् की शक्ति का विश्लेषण करता है, भगवान् से भिन्न नहीं है। अन्ततः भगवान् कृष्ण ही सर्वस्व हैं क्योंकि हर

वस्तु भगवान् की विविध शक्तियों का अंश है। यद्यपि वैदिक वाङ्मय द्वैत में लीन लोगों को अनेक प्रकार के इच्छित भौतिक फल प्रदान करते हुए, उन्हें वैदिक जीवन-शैली अपनाने के लिए मोहित करता है, किन्तु सारे वेद अन्त में समस्त द्वैत का निषेध करते हुए मनुष्य को ईश-भावनामृत की अवस्था तक ले जाते हैं जहाँ पर कोई भी वस्तु भगवान् से भिन्न नहीं रह जाती।

वैदिक वाङ्मय में ऐसे अनेक आदेश हैं जिनमें कहा गया है कि जीवन की एक विशेष अवस्था में मनुष्य कर्म-काण्ड छोड़ कर ज्ञान-मार्ग अपनाये। इसी तरह अन्य आदेश यह घोषित करते हैं कि मानसिक चिंतन त्याग कर परब्रह्म परमेश्वर की शरण ग्रहण की जाय। किन्तु किसी भी स्थल पर यह आदेश नहीं है कि कोई व्यक्ति भगवद्भक्ति छोड़ दे क्योंकि यह तो हर जीव का शाश्वत स्वाभाविक पद है। वेदों में अनेकानेक मतों का मंडन-खंडन हुआ है क्योंकि प्रगति करने वाले व्यक्ति को ज्ञान की दिशा में प्रगति करते हुए पिछली अवस्था को त्यागना होता है। उदाहरणार्थ, जो व्यक्ति यौन में लिप्त रहता है, उसके लिए यह शिक्षा दी जाती है कि वह धर्म-विवाह करके अपनी पत्नी के साथ यौन-सुख भोगे। किन्तु जब व्यक्ति वैराग्य अवस्था को प्राप्त कर ले, तो उसे ऐसे अनुष्ठानिक ज्ञान का परित्याग कर देना चाहिए और संन्यास ले लेना चाहिये। इस अवस्था में मनुष्य को स्त्री का दर्शन करने या उससे बोलने का भी निषेध रहता है। किन्तु जब कोई व्यक्ति कृष्णभावनामृत की सिद्धि को प्राप्त होता है, जिसमें सर्वत्र भगवान् प्रकट दिखते हैं, तो वह सारे जीवों को, जिसमें स्त्रियाँ भी शामिल हैं, भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगाये क्योंकि तब उसके आध्यात्मिक पतन का कोई भय नहीं रह जाता। इस तरह वैदिक वाङ्मय में आध्यात्मिक दृष्टि की उत्तरोत्तर अवस्थाओं पर आधारित विभिन्न आदेशों का खण्डन-मण्डन मिलता है। चूँकि ऐसे सारे आदेश तथा सारी विधियाँ कृष्णभावनामृत प्राप्त करने के निमित्त हैं, अतएव वे भगवान् से भिन्न नहीं हैं। इसलिए बद्ध आत्मा को किसी बीच की अवस्था को जीवन का असली लक्ष्य मान कर भगवद्धाम जाने की यात्रा पर रुक नहीं जाना चाहिए। उसे यह समझ लेना चाहिए कि भगवान् श्रीकृष्ण ही हर वस्तु के उद्गम, स्थिति तथा आश्रय हैं और हर जीव उनका नित्य दास है। इस तरह आनन्द तथा ज्ञान के शाश्वत जीवन के लिए मनुष्य को भगवद्धाम जाने के लिए वैदिक मार्ग पर चलते रहना चाहिए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत “भगवान् कृष्ण द्वारा वैदिक पथ की

व्याख्या'' नामक इक्कीसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।